

श्रीमद्गुरुसुक्तकथा का तिरसठवाँ पुष्प

प्राचीन पंडित और कवि



बदायीनप्रसाद द्विवेदी



प्राचीन पंडित और कवि

अपादक
श्रीगुलारेलास भागवत

चुनी हुई पुस्तकें

मतिराम प्र थावली	२॥), ३)	विरहिणी राजागना	॥)
देव और विहारी	१॥॥), २॥)	प्रिय प्रवास	२॥)
विहारी रक्षाकर	५)	चोखे चौपदे	१॥॥)
पराग	॥), १)	सुभते चौपदे	१॥॥)
उपा	॥=)	जरासध वध महाकाव्य	१॥)
भवभूति	॥=), १=)	दुर्योधन-वध	॥)
अनुराग-वाटिका	॥=)	हिंदी काव्य में	
ठाकुर-ठसक	॥=)	नवरम	२)
पल्लव	२)	वागवान	१)
सुयहवतन	२)	नवीन वीन या नधीमे	
अनघ	॥)	दीन	२)
पंचवटी	॥=)	रहोम कवितायलो	॥=)
संलाप	॥=)	कविरत्न मीर	१॥॥)
प्रतिध्वनि	॥=)	निर्मात्य	१)
स्वदेश-संगीत	॥॥)	दागे जिगर	१॥)
सुमन	१)	हिंदी के मुमलमान कवि	२)
भारत भारती	१)	पद्य प्रसून	१॥)

हिंदी की मय तरह की पुस्तकें मिलने का एक मात्र पता—

संचालक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२६-३०, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का तिरसठवां पुष्प

प्राचीन पंडित और कवि

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

१९०८

प्रकाशक

गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय

२९३०, अमोनाबाद पार्क

लखनऊ

द्वितीयपावृत्ति

देवको शिल्प ११५] सं. १९८२ वि०] [मार्च ११५]

अतएव पद्मावती नगरी यहीं रही होगी, इसमें संदेह नहीं। वहाँ पुरानी इमारतों के कुछ चिह्न और धुस्स अब तक विद्यमान हैं। वे सब ईसा की पहली शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक के हैं। प्राचीन नाग-वंश के राजाओं के सिक्के तो आज तक सैकड़ों मिल चुके हैं और अब तक मिलते जाते हैं। ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी का एक शिलालेख भी संस्कृत में मिला है। लिपि उसकी ब्राह्मी है। ग्वालियर-राज्य के पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष, मिस्टर एम० बी० गर्डे, ने इस लेख का संपादन किया है। लेख में मणिभद्र-नामक देवता की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। यह मूर्ति भी टूटी-फूटी अवस्था में मिली है। लेख राजा शिवनंदी के समय में खोदा गया था। पर इस राजा का कुछ भी ऐतिहासिक हाल अब तक नहीं मालूम हुआ। पुराणा के निरासी परंपरा से सुनते आये हैं कि वहाँ पहले एक प्रसिद्ध राजधानी थी और अनेक प्रतापी नरेश वहाँ हो गये हैं। यहाँ तक कि वे लोग संकल्प में “पद्मावती महा-सगमश्रेत्रे” का अब तक उल्लेख भी करते हैं। इससे सिद्ध है कि मालतीमाधव में भवभूति को उल्लिखित पद्मावती नगरी वहाँ पर थी जहाँ पर अब पुराणा-नामक छोटा-सा गाँव है। यदि आठवीं शताब्दी में ग्वालियर के आसपास का प्रांत विदर्भ-देश कहाता रहा हो तो, कुछ लोगों के अनुमान के अनुसार, पद्मावती ही भवभूति की जन्मभूमि

पधपुर हो सकता है। अन्यथा बरार में वह कहीं और ही जगह रहा होगा।

इस छोटी-सी पुस्तक में ८ प्राचीन विद्वानों के विषय में लिखे गये लेखों का संग्रह है। सुखदेव मिश्र बहुत पुराने नहीं, पर कल की भी बात आज पुरानी हो जाती है। इस दृष्टि से वे भी नये नहीं, क्योंकि उनको भी हुए इस समय कोर दो मी वर्ष हो चुके। इनके सिवा उनके चरित में बिलक्षणतापूर्ण कुछ अलौकिक बातें भी हैं, जिनसे विशेष मनोरंजन हो सकता है। इस संग्रह के लेखों में कवियों के समय के क्रम का विचार नहीं किया गया। जो लेख पहले का है उसे पहले, जो उत्तर बाद का है वह उत्तर बाद रक्खा गया है। अतएव यह क्रम लेखों के समय के अनुसार है, कवियों और पंडितों के समय के अनुसार नहीं।

यदि यह पुस्तक हिंदी के प्रेमियों को पसंद आए तो हम भिन्न-भिन्न विषयों के अपने अयाग्य लेख भी पुस्तकरूप में प्रकाशित करेंगे।

बमबाल प्रेस,
दुली, काठपुर—नवंबर १९१८

महाश्रीरामदास द्विवेदी

सूची



	पृष्ठ
१—भवभूति	१
२—लोलिपराज	२२
३—फारसी-कवि हाफिज	४६
४—वेदान्तार्थ शीलमद्र	६२
५—मधुरवाणी	७०
६—सुखदेव मिश्र	७८
७—द्वीरविजय सूरि	१०७
८—श्राचार्य दिङ्नाग	१२८



प्राचीन पंडित और कवि

— ❁ —

भवभूति

प्राचीन कवियों, पंडितों और नाटककारों के विषय में दो णक को छोड़कर हिंदी के अन्य अनुरागी सज्जन प्रायः कभी कुछ लिखने ही नहीं। हिंदी का साहित्य इस प्रकार के निबंधों से शून्य-सा हो रहा है। जैसे और-और बातों में बंगला और मराठी भाषा का साहित्य हिंदी के साहित्य से बड़ा हुआ है, वैसे ही यह इस विषय में भी है। मदामहो पाध्याय मनीशचंद्र विद्याभूषण, पंडित विष्णु कृष्ण शास्त्री विप्लवकर और पंडित माधवराय बेंकटेश सेले इत्यादि विद्वानों ने, अपनी-अपनी देश-भाषा में, भवभूति के विषय में, बहुत कुछ लिखा है। प्रोफेसर विलसन, सर मानियर विलियम, कोलब्रुक, नंडारकर और दत्त इत्यादि ने भी भवभूति और उसके नाटकों की प्रशंसा करने में अपनी-अपनी भाषा में प्रयोग किया है। परंतु, हिंदी में, उहाँ तक हम जानते हैं, भवभूति के विषय में किसी ने कुछ नहीं लिखा।

विष्णु शास्त्री ने कालिदास, भवभूति, बाण, मुर्खतु और पंडरी, इन पाँच प्राचीन कवियों पर, मराठी में, पाँच निबंध

लिखकर इन पाँचों के समाहार का नाम “संस्कृत कविपंचक” रखवा है। शास्त्री महाशय ने भवभूति को छोड़कर शेष चार कवियों के समय का निरूपण भी यथाशक्य किया है और उनके विषय में, जहाँ तक संभव था, गद्यपद्या भी की है। परंतु भवभूति के समय के विषय में उन्होंने बहुत ही कम लिखा है। उनके कथन का आशय यह है—केवल मृच्छकटिक, प्रबोधचंद्रोदय, नागानन्द इत्यादि नाटकों में और दशकुमारचरित इत्यादि ग्रंथों में उस समय के जनसमूह की स्थिति का कुछ परिचय मिलता है। इसलिये भवभूति को कालिदास का समसामयिक मानने की अपेक्षा जिस समय ये ग्रंथ निर्मित हुए हैं उस समय के आसपास उसका अस्तित्व स्वीकार करना विशेष युक्तिसंगत है।

विष्णु शास्त्री ने जिनका नाम दिया है वे प्रायः सातवीं शताब्दी के ग्रंथ हैं। जैसे इन ग्रंथों में दीर्घ समासों की प्रचुरता है, वैसे ही भवभूति के नाटकों में भी है। जैसे इनमें चौद्ध-धर्मावलंबियों के चरित का कहीं-कहीं चित्र खिंचा गया है, वैसे ही भवभूति के मालतीमाधव में भी खिंचा गया है। इसीलिये विष्णु शास्त्री ने शूद्रक, कृष्ण मिश्र, वाण और दंडी के समय के सन्निकट भवभूति का होना अनुमान किया है। इतना ही लिखकर वे चुप हो गए हैं, भवभूति के समय का विशेष निरूपण उन्होंने नहीं किया।

राजतरंगिणी के चतुर्थ तरंग में लिखा है—

कश्मिराक्षुपतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवित.

जिनो यथो यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिरन्दिताम्

(श्लोक १४५)

अर्थात्, वाक्षुपतिराज और भवभूति आदि कवियों से सेवा किए गए यशोवर्मा ने (ललितादित्य से) परास्त होकर उस विजयी का गुण गाया। यशोवर्मा नाम का राजा सन् १६३ से ७२६ ईसवी तक कर्नाज के राज्यासन पर आसीन था। इस यशोवर्मा को काश्मीर के राजा ललितादित्य ने परास्त किया, और भवभूति को अपने साथ वह काश्मीर ले गया। इसमें यह तिद्ध है कि भवभूति, अष्टम शताब्दी के आरंभ में, कान्यकुब्जाधिप यशोवर्मा की सभा में, उसके आश्रित होकर, विद्यमान था। अनप्य “यह कहना समुचित नहीं जान पड़ता कि भवभूति को राजाभय था, यदि उसे राजाभय होता तो उसके तीनों नाटकों का प्रयोग कान्यप्रियनाथ की यात्रा ही के समय क्यों होता?”, विष्णु शास्त्री की यह उक्ति बिलकुल निराधार है। भवभूति को राजाभय अवश्य था। कान्यप्रियनाथ की यात्रा ही के समय उसके नाटकों का क्यों प्रयोग हुआ, इसका कोई कारण होगा। भवभूति ने यशोवर्मा की सभा में न्याय पाने के पहले ही शाब्द अपने नाटक रिते हों, अथवा यशोवर्मा के पराजय के अनंतर काश्मीर जाकर और वहाँ से राजाभय

हीन होकर, स्वदेश को लौटने पर, शायद उसने उन्हें बनाया हो, अथवा राजधानी की अपेक्षा यात्राओं में अधिक जन-समूह एकत्र होने के कारण उसी अवसर पर शायद उसने अपने नाटकों का प्रयोग किया जाना प्रशस्त समझा हो।

कुछ वर्ष हुए, डॉक्टर बूत्तर को एक "गौडवहो" (गौडवध)-नामक प्राकृत काव्य मिला। इस काव्य को श्रीयुत पांडुरंग ने बंबई में छपाकर प्रकाशित किया है। इसके कर्ता वही वाक्पतिराज हैं, जो यशोवर्मा की सभा में विद्यमान थे। उन्होंने "गौडवध" में यशोवर्मा का विस्तृत वृत्तांत लिखा है और तद्द्वारा गौडदेश के राजा का पराजय वर्णन किया है। इस काव्य में वाक्पतिराज ने अपनी कविता के संबन्ध में लिखा है—

प्राकृत

भवभूजलनिर्गमयकव्यामपरसकणा इव स्फुरन्ति
जस्त विशेषा अद्यापि वियहेसु कथाप्रबन्धेषु

सस्कृत

भवभूतिजलनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथाप्रबन्धेषु

अर्थात्, भवभूतिरूपी जलनिधि से निकले हुए काव्यरूपी अमृत के कणों के समान जिसके निबन्धों में अनेक विशेष-विशेष गुण अद्यापि चमक रहे हैं। इससे भी वाक्पतिराज के साथ भवभूति का, यशोवर्मा के यहाँ अष्टम शताब्दी के प्रारंभ में, होना सूचित होता है।

कई वर्ष हुए, हमारे मित्र पटिन, माधवराव, चंकेटेश लेले को, घर में, एक प्राचीन हस्त लिखित मानतीमाधव की पुस्तक मिली। उसमें "महकुमारिलशिष्यमहभयभूति" लिखा है। "गीढवध" की भूमिका में भी लिखा है कि इदीर में मालतीमाधव की एक पुस्तक मिली है, जिसमें "इति—कुमारिलशिष्यवृत्ते" लिखा है। कुमारिल मह सप्तम शताब्दी के अंत में हुए हैं। अतएव भयभूति का अष्टम शताब्दी के आदि में होना सब प्रकार सुसंगत है।

शंकरद्विषय में लिखा है कि बिद्मशालभक्तिका और बालरामायण आदि के कर्ता राजशेखर के यहाँ शंकराचार्य गए थे, और उनके बतए नाटक आचार्य ने कहे थे। इससे राजशेखर और शंकर की समकालीनता प्रकट होती है। राजशेखर अपने बालरामायण में लिखते हैं—

षभूष यत्सोऽहमुद. कदि पुरा
नत प्रपेद जुदि नर्तमदुताम्
स्त्रिय पुनयो नवभूतिरेवथा
स वनेन समप्रति राजशेखर.

अर्थात्, पहले सा-मोहि कवि हुए। फिर नर्तक ने काम किया, नर्तक ओ नवभूति नाम से प्रसिद्ध था, दस वर्ष राजशेखर के रूप में वर्णित है। शंकराचार्य अष्टम शताब्दी के अंत में हुए हैं। अतएव राजशेखर का अस्तित्व भी उसी समय सिद्ध है। जब यह सिद्ध है तब उक्त कवि, दस वर्ष

के अनुसार भवभूति का समय राजशेखर से कुछ ही पहले, अर्थात् अष्टम शताब्दी के आरम्भ में, होना भी सिद्ध है।

सप्तम शताब्दी के मध्य में होनेवाले वाण कवि ने अपने हर्षचरित में जिन कवियों के नाम दिए हैं, उनमें भवभूति का नाम न दिया जाना भी वाण के अनंतर भवभूति का होना सिद्ध करता है।

भवभूति ने महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तर-रामचरित—ये* तीन नाटक लिखे हैं। इनमें से अंतिम में अल्प और पहले के दोनों नाटकों में किञ्चित् विशेष रूप से उसने अपने जन्मस्थान आदि का वृत्तान्त लिखा है। महावीरचरित में अपने विषय में जो कुछ भवभूति ने लिखा है, वह यह है—

“अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम् । तत्र केचित्-
तैत्तिरीयिण काश्यपाश्चरणगुरव, पङ्क्तिपावना, पचाग्नयो
वृत्तवता, सोमपीथिन उडुम्बरा ब्रह्मवादिन, प्रतिवसन्ति ।
तदामुप्यायणस्य तत्र भद्रतो वाजपेययाज्ञिनो महाकवे पचम-
सुग्रहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्र, पवित्रकीर्तेर्नालकंठरया-
त्मसम्भरः श्रीकठपदलाञ्छनो भद्रभूतिर्नाम जातूकर्णोपुत्रः ।

*डॉक्टर भाडारकर लिखते हैं कि शङ्कर-धर-पद्धति में—

निरवधानि पद्यानि यदि नाटयस्य का क्षति

भिक्षुकक्षविनिक्षिप्त किमिक्षुर्नोऽसौ भवेत्

यह श्लोक भवभूति के नाम से निर्दिष्ट है, जिमसे सूचित होता है कि इस कवि ने इन तीन नाटकों के अतिरिक्त और भी कोई ग्रन्थ लिखा है, क्योंकि यह श्लोक इन तीनों पुस्तकों में नहीं पाया जाता।

श्रेष्ठ. परमहंसानां महर्षीणामिगिराः

यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः

अर्थात्, दक्षिण में पद्मपुर नाम नगर है, जहाँ यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अध्ययन करनेवाले, व्रतधारी, सोम-यज्ञकारी, पत्नीपावन, पचाग्निक, ब्रह्मरादी, काश्यपगोत्रीय उद्बुधर ब्राह्मण रहते हैं। उनके यहाँ वाजपेय-यज्ञ करनेवाले, पुण्यशील, भट्ट गोपाल-नामक महाकवि का प्रादुर्भाव हुआ। भट्ट गोपाल के गोत्र, और पवित्रकीर्ति पिता नीलकण्ठ तथा माता जाम्बुकी के पुत्र, श्रीकण्ठ-उपाधि भूषित भयभूति का यहाँ जन्म हुआ। परमहंता में श्रेष्ठ और महर्षियों में अगिरा के समान जिन (भयभूति) के गुरु भगवान् ज्ञाननिधि* नाम यथार्थ में ज्ञाननिधि ही हैं।

इसी का मारांश विष्णु शास्त्री ने, अपने भयभूति-नामक निबंध में, इस प्रकार लिखा है—

"दक्षिण-देश के अंतर्गत पद्मपुर-नगर में उद्बुधर नामक तपोनिष्ठ ब्राह्मण रहते हैं। उन्हीं के यश में गोपाल भट्ट का जन्म हुआ। गोपाल भट्ट के नीलकण्ठ-नामक पुत्र हुआ और नीलकण्ठ के भयभूति नामक। भयभूति की माता का नाम जाम्बुकी था। गौड़ में यह कवि भट्ट-श्रीकण्ठ नाम से भी पुकारा जाने लगा।"

परन्तु इस विषय में उन्होंने और अधिक बच्चों नहीं की, इसका ही कारण यह बुरा ही मर है।

* ज्ञाननिधि भट्ट ही ७० वाक्य ज्ञाननिधि के नहीं ?

महावीरचरित से जो पक्तियाँ हमने उद्धृत की हैं वही पक्तियाँ, कुछ परिवर्तित रूप में, मालतीमाधव में भी हैं। वहाँ उनका आरंभ इस प्रकार हुआ है—“अरित दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मनगर नाम नगरम्”—जिससे सिद्ध होता है कि दक्षिणापथ के विदर्भ-देश में पद्मपुर अथवा पद्मनगर था। विदर्भ का आधुनिक नाम बरार है, परंतु बरार-प्रांत में पद्मपुर का कहीं पता नहीं। यह नगर इस समय अस्तित्व-हीन हो गया जान पड़ता है। मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर ने पद्मपुर और पद्मावती में अभेद बतलाया है, यह ठीक नहीं। पद्मावती, मालतीमाधव में वर्णन किए गए मालती और माधव के विवाहादि का घटना-स्थल है। डॉक्टर भांडारकर का मत है कि भवभूति का जन्मस्थान बरार में कहीं चाँदा के पास रहा होगा। वहाँ कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखावाले अनेक महाराष्ट्र ब्राह्मण अब तक रहते हैं। उनकी देशस्थ संज्ञा है और उनका सूत्र आपस्तंब है। चाँदा के दक्षिण और दक्षिण पूर्व उसी वेद और उसी सूत्रवाले अनेक तैलंग ब्राह्मण भी रहते हैं। भवभूति ने अपने नाटकों में गोदावरी का जो वर्णन किया है उससे जान पड़ता है कि वह उस नदी से विशेष परिचित था। पद्मपुर शायद गोदावरी के तट पर ही अथवा कहीं उसके पास ही रहा होगा।

मालतीमाधव की घटनाएँ पद्मावती-नगरी में हुई हैं। कवि ने इस नगरी के चिह्नों का कुछ-कुछ पता दिया है।

चतुर्थ अंक के अंत में माधव से उमका सत्ता मकरद कहता है—“तदुत्तिष्ठ पारासिंधुसम्भेदमगच्छ नगरमेव प्रवि-
शाय —” जिससे विदित होता है कि पाग और सिंधु नाम
काँ काँ नदियों के सगम पर पद्मावती नगरी बसी थी। इस
बात को कवि ने नवम अंक के आरंभ में पुनरपि पुष्ट किया
है। वहाँ उसने लिखा है—

पद्मावतीधिमलधारिदिशासिन्धु-
पारामरित्परिकरच्छूनतो विभर्ति
उत्पुङ्गसौधगुरमन्दिरगोपुराट्ट-
संघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरिक्षम्
सैषा विभाति लयणा ललितोर्मिपंक्ति-
रन्नागमे जनपदममदाय यस्या-
गोगर्भिणीप्रियनम्रोपलमालभारि-
से योषकण्ठविधिनाशतरो विभान्ति

यहाँ एक लयना-नदी का भी नाम आया है,
जिससे सूचित होता है कि पद्मावती व पाग ही
सगम में बहती थी। एही अंक में, कुछ दूर आगे,
लिखा है—

“अथ च मधुमतीसिंधुसगोपादना नगरेण नद्यती
पतिगोदक्षेत्रप्रतिष्ठ गुरुलविदूतिपाहारायने।”

इससे यह भी ज्ञाना जाता है कि वहाँ मधुमती नाम की
नदी भी थी और उमका तथा सिंधु के सगम पर गुरुलविदूति

नामक शंकर का मंदिर था। जनरल कनिंहम और पंडित वामन-शिवराम आपटे का मत है कि ग्वालियर-राज्य के अतर्गत मालवा-प्रांत का नरवर-नगर ही प्राचीन पद्मावती है। नरवर सिंध (प्राचीन सिंधु)-नदी पर बसा है, और उसके पास ही पार्वती (प्राचीन पारा), लोन (प्राचीन लवणा) और मधुवर (प्राचीन मधुमती)-नदियाँ बहती हैं। यह पहचान जँचती तो ठीक है, परंतु पारा और सिंधु के संगम से नरवर कोई २५ मील है। इसी से डॉक्टर भाडारकर कहते हैं कि नरवर से हटकर, कहीं दूसरे स्थान पर, पद्मावती रही होगी। विक्रमादित्य के समय से ही और प्रांतों की अपेक्षा मालवा-प्रांत ने विद्या-बुद्धि में विशेष ख्याति प्राप्त की थी। इसी से राजमत्रियों तक के लड़के विदर्भ देश से पद्मावती में आन्वीक्षिकी-विद्या (न्याय शास्त्र) पढने आते थे। संभव है, विदर्भ से कान्यकुब्ज जाते समय, अथवा काश्मीर से लौटते समय, भवभूति पद्मावती ही के मार्ग से गया हो, और उस नगर की तथा उसके निकट बहनेवाली नदियों की शोभा प्रत्यक्ष देखकर मालतीमाधव में उनका वर्णन उसने किया हो। पद्मावती में विद्या की विशेष चर्चा थी, अतएव भवभूति का वहाँ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

त्रिष्णु शास्त्री विपलूणकर ने अपने निबन्ध में यह बात सिद्ध की है कि जैसे एक ही अर्थ के व्यंजनरूप पृथक् पृथक् पद्य

कालिदास ने अपने पृथक्-पृथक् ग्रंथों में लिखे हैं वैसे भयभूति ने नहीं लिखे। अर्थात् भयभूति ने एक ही भाव का निष्प्रेषण करके उसे अनेक स्थलों में पद्य-बद्ध नहीं किया। यह हम भी मानते हैं। परंतु शास्त्रीजी के इस कहने से हम सहमत नहीं कि "त्रिचारों के विषय में, हम, यहाँ पर, एक मात्र और कहना चाहते हैं। यह यह कि वे स्वयं कवि के हैं, और काव्यों का किंचिन्मात्र भी आधार उनको नहीं—" शास्त्रीजी का आशय शायद यह है कि भयभूति के नाटकों में उसके पूर्ववर्ती कवियों की छाया तक नहीं पार्ई जाती। स्वयं शास्त्रीजी को एक वेना उदाहरण मिला है, जिसमें भयभूति-रुचि मातृतामाधय के—

‘घारं घारं मिरयति ह्योक्तमम वाप्यपूर.’

इस श्लोक का भाव और कालिदास-रुचि मंत्ररुचि के “ग्यामातिक्रम प्रणयवृत्तिना धानुगते, शिलायाम्” इस श्लोक का भाव एक ही है। परंतु यहाँ पर शास्त्रीजी ने भयभूतिरुचि शिष्य को कालिदासरुचि शुरु से बढ़ गया बताया— खाने कथन को एक किया है और कहा है कि इस अर्थमात्र से उभरे मत में बाधा नहीं ला सकती। हम यह नहीं कहते कि भयभूति में कालिदास काव्य अर्थ अर्थ निर्मा पूर्ववर्ती कवि के विचारों को चोरी की है, परंतु हाँ,

* एक अन्य और विचलितार्थी में श्री. कालिदास की एक ही कविता का उदाहरण भी है।

कालिदास, शूद्रक और क्षेमेंद्र, ये तीनों कवि भवभूति से पहले हुए हैं। इनकी उक्तियों की छाया भवभूति के पद्यों में, अनेक स्थलों पर, पाई जाती है। यह चाहे इन कवियों के काव्यों के पाठ से भवभूति के हृदय में उत्पन्न हुए सस्कार-विशेष का फल हो, चाहे यों ही घुणाक्षर-न्याय से पूर्व कवियों की उक्तियों का भाव उसकी उक्तियों में आ गया हो। कुछ ही क्यों न हो, कहीं-कहीं साम्य अवश्य है।

अनेक विद्वानों का मत है कि भवभूति ने पहले महावीर चरित, फिर मालतीमाधव और फिर उत्तररामचरित लिखा है। इन ग्रंथों की लेख प्रणाली, इनके अर्थ-गौरव और इनके रसाल भावों का विचार करने से यह सिद्धांत युक्तिसंगत जान पड़ता है। महावीरचरित में वीर, मालतीमाधव में शृंगार और उत्तररामचरित में करुण-रस की प्रधानता है। इन नाटकों में क्या गुण है, और क्यों भवभूति की इतनी प्रशंसा होती है, इन सब बातों का विचार विष्णु शास्त्री ने बड़ी ही योग्यता से अपने निबंध में किया है। अनेक उत्तमोत्तम पद्य उद्धृत करके उन्होंने उनकी युक्ति-पूर्ण समीक्षा की है। भवभूति के नाटकों के कथानक की भी शास्त्रीजी ने प्रशंसा की है। परंतु मालतीमाधव के कथानक के संबंध में, डॉक्टर भांडारकर की सम्मति उनकी सम्मति से नहीं मिलती। डॉक्टर साहब का कथन है कि इस नाटक में जो दमशान-चर्चन है, वह असंगत सा है मूल कथानक में

वह जोड़-सा दिया गया है। वे यह भी कहते हैं कि कपाल-कुटला के द्वारा मालती का हरण किया जाना करि ने केवल इमलिये दिखाया है, जिससे दियोगियों की दशा का वर्णन करने के लिये उसे अवसर मिले। डॉक्टर भांडारकर ने और भी दो-एक बातें, शास्त्रीजी के मत के प्रतिकूल, कही हैं। डॉक्टर साहब के मतलाए हुए दोष ऐसे हैं जो सामान्य जनों के ध्यान में नहीं आ सकने। नाट्य शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि में ऊपर कही बातें चाहे भले ही सदाय हों, परंतु हम, हम विषय में, यह अवश्य कहेंगे कि भयभूति का क्रिया हुआ भ्रमरान वर्णन अद्वितीय है। श्रीमत्स रम का ऐसा अच्छा उदाहरण मस्त्रन के और नाटकों अथवा काव्यों में हमने नहीं देखा। भयभूति का विप्रलभ-वर्णन भी एक अद्भुत वातु है। अतएव भयभूति के ये दोष यदि दूरे जा सकते हैं तो क्षम्य है। यदि वह इन उपर्युक्त बातों को मालतीमाधव के निकाल डालता, तो हम श्रीमत्स और दियोग भृगार के अलौकिक रम से परिन्तुत उमकी अनूटी कथिता से भी बचिन रहने। पंडित माधवराय सेंकटेश लेले ने भयभूति के सब नाटकों की समालोचना मराठी में की है और अनेक दोष दिखलाए हैं, परंतु हम छोटे से विषय में हम उन सब दोषों का विचार नहीं कर सकते।

अपने नाटकों के बनाने का कारण भयभूति में कहीं भी स्पष्ट नहीं किया। परंतु उसके नाटकप्रथ में वर्णित

वस्तुजात और पात्रों के क्रिया-कलाप आदि से उस बात का पता लगता है। जिस समय भवभूति का प्रादुर्भाव हुआ उस समय, इस देश में, बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था। षष्ठ शताब्दी में उद्योतकर, सप्तम शताब्दी में कुमारिल भट्ट और अष्टम शताब्दी में शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म को उच्छिन्न करने में कोई बात उठा नहीं रखी। वैदिक धर्म के प्रतिपादन और बौद्ध धर्म का सहार करने के लिये इन महात्माओं ने जो कुछ किया है वही भवभूति ने भी किया है। इन्होंने स्पष्ट रीति से बौद्ध धर्म का खंडन किया है, परंतु भवभूति ने स्पष्ट कुछ नहीं कहा। अनेक स्थलों पर अपने नाटकों में वैदिक धर्म की श्रेष्ठता और बौद्ध धर्म की हीनता के उदाहरण दिसलाते हुए, दोनों प्रकार के धर्मावलंबियों की दिनचर्या का चित्र खींचकर, भवभूति ने सब मर्म अभिनय देखनेवालों के सम्मुख उपस्थित कर दिया है, जिसका यही तात्पर्य है कि वैदिक धर्म ब्राह्म और बौद्ध धर्म त्याज्य है।

मालतीमाधव की प्रसिद्ध पात्री कामदकी बौद्ध संन्यासिनी थी। वह अपने आश्रम धर्म के विपरीत मालती और माधव को विवाह-सूत्र से बाँधने के बलेड़े में पड़ी थी। उनकी शिष्य सौदामिनी बौद्ध संप्रदाय का त्याग करके अघोरवंट और कपालमुडला के तांत्रिक जाल में फँसी थी। ये तांत्रिक पंसे दुराचारी और नृशल थे कि अपनी

इष्टदेवी चामुंडा के सम्मुख, समय-समय पर, नर-यनि दिया करने थे । मालतीमाधव का यह चित्र बौद्ध धर्म के अध-पतन का दर्शक है । वैदिक धर्म के अनुयायियों की श्रेष्ठता का चित्र वीरचरित और उत्तरचरित में है । इन दोनों नाटकों में रामचंद्र, राहमण, लक्ष्मण, कुश, सौधातकि, जनक, यशिष्ठ, त्रिध्यामित्र और जानकी आदि के चित्रों द्वारा भरभूति ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, दानप्रस्थ, राजा, प्रजा और तपस्विधर्म के आचारों और ग्यःद्वारा का ऐसा अच्छा आदर्श दिखलाया है, जिससे धेराने से वैदिक धर्म का स्वरूप नेत्रों से सम्मुख उपस्थित हो जाता है और उस पर आंतरिक अन्तः उपपन्न हुए दिना नहीं रहती । दोनों धर्मों के अनुयायियों के आचरणानुरूप दो प्रकार के उद्य और नीच चित्र चित्रित करके कवि ने उनको उद्यता और नीचता का भेद बढ़े ही कौशल से दिखाया है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने यह सब बौद्ध धर्म को दुरवस्था सूचित करने और अभिनय देगनेवालों के मन में उत्त और अनास्था उत्पन्न करने ही के लिए किया है । भरभूति के गुरंगों दिखानों ने बौद्ध धर्म को दिगमूल करने के लिए उस पर प्रत्यक्ष कुट्टार प्रयोग किया था, परंतु भरभूति ने इसी काम उस संघरायवालों को, प्रमाण रूप से दिग जितो प्रमाण का मानविह हें उ पढ़ेवाये, धरों नाटकों द्वारा कर दिखारा । भरभूति के नाटकों को विचार-गुरंग देगों में

यही भावना मन में उत्पन्न होती है कि बौद्ध धर्म निस्सार और वैदिक धर्म परम सारवान है।

नाटक लिखने में भवभूति का आसन कालिदास से कुछ ही नीचे है। कोई-कोई तो उसे कालिदास का समकक्ष और कोई-कोई उससे भी बढ गया बतलाते हैं। भवभूति ने मनुष्यों के आंतरिक भावों का कहीं-कहीं ऐसा उत्कृष्ट और ऐसा सजीव चित्र खींचा है कि उसे देखकर कालिदास का विस्मरण हो जाता है। खेद है, उसकी इस अद्भुत शक्ति का विकास देखने और उसके द्वारा एक अकथनीय आनंद प्राप्त करने के लिए केवल हिंदी जाननेवालों का मार्ग रुद्ध-सा हो रहा है। हाँ, यह सत्य है कि एक पुराने लेखक ने भवभूति के तीनों नाटकों के अनुवाद हिंदी में किए हैं, परंतु, जहाँ तक हम समझते हैं, उनके अनुवादों से भवभूति की अलौकिक कविता का अनुमान होना तो दूर रहा, उन्हें पढ़कर पढ़ने-वालों के मन में मूल-कविता के विषय में घृणा उत्पन्न होने का भय है। कहाँ भवभूति की सरस, प्रासादिक और महा-आहाद-दायिनी कविता और कहाँ अनुवादकजी की नीरस, अव्यवस्थित और दोषदाघ अनुवादमाला ! परस्पर दोनों में सौरस्य विषयक कोई सादृश्य ही नहीं ! कौड़ी-मोहर, आकाश पाताल और ईश इंडायण का अंतर ! अपने कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिए हम, यहाँ पर, मालती—माधव से दो एक उदाहरण देना चाहते हैं, जिनको देखकर

पढ़नेवाले श्वालोपुलाक-न्याय से मूल और अनुवाद का अंतर समझ जायेंगे—

अपनी सखी लवंगिका के धोखे माधव का आलिंगन करके, अनंतर उसे पहचान, जब उससे मालती दृष्ट गर्त, तब माधव कहता है—

षकीकृतस्वचि निषिक्त इवात्रपीठ्य
निर्मुग्धपीनकुचकुट्टमलयाऽनया मे ।
कपूर् रदारदरिचन्दनचन्द्रकांत-
निव्यदशैवलमृणालहिमादिवर्ग ॥

भावार्थ—अच्छूने पीन-पयोधर-रूपी मुखलों को धारण करनेवाली इस मालती ने, कपूर् र दार, दरिचंदन, चंद्रकांत-मणि श्लेष (सियार), मृणाल और हिम आदि शीतल पदार्थों को इर्धभूत करके, उन्हें एकत्र निचोड़, मेरी त्वचा पर कनक रंग का लेप-सा लगा दिया । इसका अनुवाद सुनिप—

जु तुषार चंदन रस योरी,
दिरक्त जग मृनाल निचोरी ;
उमरे उर (!) मो द्विष दुष्यापति,
जु कपूर ता पोरि लगावति ।

मूल के कपूर् र, दरिचंदन, मृणाल और हिम को लेप-र दार, चंद्रकांत और सियार को दाढ़ दिया ! मूल में एक ही विषय है; वह भी भूतकान्ति है । अनुवाद में दिरक्ति, दुष्यापति और लगावति तीन विषयों हैं और तीनों परमाण

यही भावना मन में उत्पन्न होती है कि बौद्ध धर्म निस्सार और वैदिक धर्म परम सारवान है।

नाटक लिखने में भवभूति का आसन कालिदास से कुछ ही नीचे है। कोई-कोई तो उसे कालिदास का समकक्ष और कोई-कोई उससे भी बढ गया बतलाते हैं। भवभूति ने मनुष्यों के आंतरिक भावों का कहीं-कहीं ऐसा उत्कृष्ट और ऐसा सजीव चित्र खींचा है कि उसे देखकर कालिदास का विस्मरण हो जाता है। खेद है, उसकी इस अद्भुत शक्ति का विकास देखने और उसके द्वारा एक अकथनीय आनंद प्राप्त करने के लिए केवल हिंदी जाननेवालों का मार्ग रुद्ध-सा हो रहा है। हाँ, यह सत्य है कि एक पुराने लेखक ने भवभूति के तीनों नाटकों के अनुवाद हिंदी में किए हैं, परंतु, जहाँ तक हम समझते हैं, उनके अनुवादों से भवभूति की अलौकिक कविता का अनुमान होना तो दूर रहा, उन्हें पढ़कर पढ़ने-वालों के मन में मूल-कविता के विषय में घृणा उत्पन्न होने का भय है। कहाँ भवभूति की सरस, प्रासादिक और महा-आहाद-दायिनी कविता और कहाँ अनुवादकजी की नीरस, अव्यवस्थित और दोषदग्ध अनुवादमाला ! परस्पर दोनों में सौरस्य विषयक कोई सादृश्य ही नहीं ! कौड़ी-मोहर, आकाश पाताल और इन्व इद्रायण का अंतर ! अपने कथन को सत्यता को सिद्ध करने के लिए हम, यहाँ पर, मालती—नाथ से दो एक उदाहरण देना चाहते हैं, जिनको देखकर

पढ़नेवाले म्वालीपुलाक-न्याय से मूल और अनुवाद का अंतर समझ जायेंगे—

अपनी सखी लजगिका के घोसे माघय का आलिंगन करके, अन्तर उसे पहचान, जब उससे मालती हट गई, तब माघय कहता है—

पशीरुनस्त्रचि निपिक्त इवापपीठ्य
निर्मुग्गपीनकुचकुट्टमलयाऽनया मे ।
फपूरदारदरिचन्दनचन्द्रकात-
निप्यदशेयलमृणालदिमादिवर्गं ॥

मापार्थ—अरूने पीन-पयोधर-रूपी मुकुलों को धारण करनेवाली हम मालती ने, फपूरदार, दरिचन्दन, चन्द्रकांत-मणि श्रेयस (सियार), मृणाल और हिम आदि शीतल पदार्थों को प्रमीभूत करके, उन्हें एकत्र निचोड़, मेरी त्वचा पर एनवं रंग का रौप-सा रंगा दिया । इसका अनुवाद मुनिप—

जनु तुषार चंदन रस पौरी,
दिरपत अग मृणाल निचोरी,
उभरे उर (!) मां दिण तुषारति,
जनु फपूर तन घोरि लगावति ।

मुनि का फपूर, दरिचन्दन, मृणाल और हिम को लेकर दार, चंद्रकांत और श्रेयस को छोड़ दिया । मूल में एक ही निप्या है, पर मां भूतकाभिच है । अनुवाद में निरकति, तुषारति और लगावति तीन शिवाये हैं और तीनों धर्मनाम-

लोलिवराज

भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवियों और विद्वानों के जीवन-चरित प्रकाशित होने से अनेक लाभ है। ऐसे चरितों के द्वारा उन-उन कवियों और विद्वानों की अलौकिक प्रतिभा के उदाहरणों आदि से पढ़नेवालों का बहुत मनोरंजन होता है। संस्कृत-कवियों के वृत्तज्ञान से तो समधिक और भी लाभ होता है। संस्कृत भाषा हमारी मातृभाषा हिंदी की जननी है और उसके परिशीलन की ओर प्रवृत्त होना इस प्रात ही के नहीं, इस सारे देश के निवासियों का परम धर्म है। संस्कृत के कवियों की कविता की आलोचना पढ़ने और उनके चरित का थोड़ा-बहुत ज्ञान होने से उस भाषा की ओर मनुष्यों की प्रवृत्ति होना अधिक संभव है।

लोलिवराज से वैद्यक विद्या के जाननेवाले संस्कृतज्ञ, औरों की अपेक्षा अधिक परिचित ह, क्योंकि लोलिवराज का प्रसिद्ध ग्रंथ वैद्यजीवन चिकित्सा-शास्त्र का ग्रंथ है। परंतु लोलिवराज वैद्य ही नहीं, किंतु एक प्रसिद्ध कवि और रसिक थे।

किसी प्राचीन विद्वान् के दिपय में कुछ लिखने के लिए लेखनी उठाते ही पढ़ते यह प्रश्न उठता है कि वह

कौन था, कय हुआ, कहाँ रहा और कौन-कौन ग्रंथ उसने लिखे । परन्तु इन बातों का उत्तर देने में प्रायः हत-सफल होना पड़ता है । यह रोद की बात है; परन्तु क्या किया जाय, घरा नहीं । किमी-किसी विरले विद्वान् को छोड़कर औरों ने अपने प्रथों में, अपने विषय में, कुछ लिखा ही नहीं । और, लिखा भी है तो बहुत थोड़ा । जिनने कुछ लिखा भी है उसने अपने लेख में ऐसी अत्युक्तियाँ कही हैं, और उस लेख को कवितारूपी घेष्टन से इतना लपेटा है, कि उसमें से ऐतिहासिक तथ्य हूँट निकालना यद्यपि कठिन काम है । लोलिबराज भी उपर्युक्त दोष से नहीं बचे । वे अपने प्रथों में अरने लिख बहने हैं—

“हमने अपनी जंघा का मांस अग्नि में दहन करके पार्वती को प्रमथ दिया । पार्वती ने हमको दूध पिलाया । हम एक घड़ी में १०० श्लाक बना सकते हैं । हम कशियों के नासक हैं । हम कशियों के पादशाह हैं । गामरिया जाननेवालों को हम मीमा हैं । राजार्यों को सभा के हम भूषण हैं ।”

यह सब कुछ अपनी प्रजुंसा में साधने लिखा, परन्तु यह न लिखा कि आर कहाँ उत्पन्न हुए, कय उत्पन्न हुए, और कौन-कौन ग्रंथ आरों के बारे में लिखे ।

लोलिबराज के बनाव हुए तीन ग्रंथ पाये गये हैं । ये हैं अथन, वैशाख्य और हरिवंशनाम । ये तीनों ७२ पद हैं । इन्हें लिखा और भी काफ़ी प्रथों का रत्ता बनना है, जे

लोलिवराज के बनाये हुए हैं । इनके नाम हैं—चमत्कार-चिंतामणि, रत्नकलाचरित, वैद्यविलास और लोलिवराजीय । पर ये हमारे देखने में नहीं आये और शायद छपे भी नहीं । उनके प्रसिद्ध तीन ग्रंथों में से पहले दो वैद्यक विषय के हैं और अंतिम में कृष्ण का चरित है । इन ग्रंथों में पहला ग्रंथ वैद्यजीवन ही अधिक प्रसिद्ध है । तीसरे, अर्थात् हरिविलास में, नंद के घर कृष्ण के पहुँचाये जाने से लेकर उद्धव-संदश तक की कथा है । काशी से निकलनेवाली काशीविधा-सुधा निधि-नामक संस्कृत पुस्तक के दूसरे भाग के सोलहवें अंक में, लोलिवराज के विषय में, पंडित वेचनराम शर्मा इस प्रकार लिखते हैं—

दिवाकर सूरि के सुत लोलिवराज राजा भोज के सम-कालीन, सूर्य नामक नरेश के पुत्र, हरिहर को सभा के पंडित थे । वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, बड़े विपरी थे, महा-मूर्ख थे । उनका बड़ा भाई जीविका के लिए देश विदेश घूमा करता था और वे दिन-रात न-जाने कहाँ रहकर भोजन के समय घर में उपस्थित होने थे और अपने बड़े भाई की खी के परोसे हुए भोजन को आरुठ खाने फिर बाहर चले जाने थे । एक दिन उनका दुर्वृत्ति से अत्यंत खिन्न होकर उनके भाई की खी ने उनके सामने से चाली खींच ली और क्रुद्ध होकर कहा—“रे दुष्ट ! घर से आज ही तु निकल जा । आज तक व्यर्थ ही मैंने तेरा पालन पोषण किया ।” ये वाक्य

लोलिहराज को विष में बुझाये हुए बाण के समान तगे ।
 वे नुस्त घर से बाहर हो गये और दक्षिण के सप्तर्षि नामक
 पर्यन पर जाकर वहाँ स्थापित की हुई अट्टारह भुजावाली
 देवी को, त्रिधाप्राप्ति के निमित्त, प्रसन्न करने के लिए तपस्या
 करने लगे । लोलिहराज को तपस्या से प्रसन्न होकर देवी
 ने उनसे 'तथास्तु' कहकर उनकी कामना पूरी की । तब से
 लोलिहराज महाकवि, महापटित, महान गायक और महान
 पंडित हो गये ।

वेचनरामजी ने इस घातों को 'जनश्रुति' कहा है । यद्यपि
 इस विषय का ग्रामाणिक लेख हमें यहीं नहीं मिला,
 तथापि इसकी कुछ सूचना लोलिहराज के ग्रंथों में मिलती
 है । यथा—

रत्न दामदजां पृथा सुन्दर धीस्तस्यर्ष्यात्पर
 स्पष्टाष्टादशपादु तद्गणपति भर्गव्य भाग्य भजे ।
 यद्भक्त्येन मया पटम्बनि ! तर्पितं समुत्पादने
 पदानां शतमहात्परसुधापध्यापियानोक्षुम् ॥

पदत्रयान में लोलिहराज अपनी मूर्ति से कहते हैं—
 पटम्बनि ! त्रियों में रत्नन्यरूपिणी, मन्दागदलापिणी, रत्ना
 शतपत्रनिगमिणी, अट्टारह भुजावाली, भगवत् परमेश्वर
 की तब शक्ति का ही भाजन बनना है तिमका भक्त मैं,
 सुमोपनिषों की साधर-सुधा की मूर्तों करके-राने की स्थापित
 कर रहा हूँ मैं, तब भजना है ।

इससे लोलिवराज का शाक्त होना और सप्तशृंग स्थित अष्टादश-भुजावाली देवी की उपासना करना सिद्ध है। इससे यह भी सिद्ध है कि वे दाक्षिणात्य थे, क्योंकि सप्तशृंग-पर्वत दक्षिण ही में है। देवी की उपासना का परिचय लोलिवराज अपने वैद्यावतस ग्रंथ में भी देते हैं। वहाँ आप कहते हैं—

हुतवहहुतजंघाजानुमांसप्रभावा-

दधिगतगिरिजाया स्तन्यपीयूषपानः ।

रचयति चरकादीन् वीक्ष्य वैद्यावतंस

कविकुलसुलतानो लाललोलिम्बराजः ॥

अर्थात् जघा और गॉठ के मांस को काट-काटकर अग्नि में होम करने के प्रभाव से प्रसन्न होनेवाली पार्वती के दुग्ध-रूपी अमृत का पान प्राप्त करनेवाला, कविकुल का सुलतान (बादशाह), लोलिवराज, चरक आदि ग्रंथों को देखकर वैद्यावतस की रचना करता है।

गिरिजा ने प्रसन्न होकर जिसे पुत्रवत् अपना स्तन पान कराया, वह कवियों का बादशाह हो गया तो क्या आश्चर्य ! उसे कवियों, वैद्यों, ज्योतिषियों, गायकों और सभी विषयों के विद्वानों का शाहशाह होना चाहिए। पंडित गट्टूलाल और अयिकादत्त व्यास इत्यादि आधुनिक विद्वान् भी शरीर के मांस का एक भी टुकड़ा हضم किये बिना ही एक घड़ी में सौ अनुष्टुप् श्लोकों की रचना कर सकते

थे । अन लोलिचराज की गर्वाङ्गि कोई गवाङ्गि न हुई । गिरिजा का स्तन पान पाकर यदि गणेश और कार्तिकेय की बराबरी उन्होंने न की तो क्या किया । हम यह नहीं कहते कि लोलिचराज की उक्ति मृषा है, नहीं, पार्वती उन पर धमक्य प्रसन्न हुई होंगी । हम यह कहते हैं कि पार्वती की प्रसन्नता का कोई विशेष लक्षण लोलिचराज की कृति में नहीं मिलता । लोलिचराज के तीनों ग्रन्थ, जो उपलब्ध हुए हैं, बहुत छोटे-छोटे हैं । यद्यपि उनकी कविता सरस और प्राग्वादि है, तथापि यह कालिदास, भवभूति और धीदर्य आदि की कविता की बराबरी नहीं कर सकती, और इन कवियों से शायद गिरिजा के स्तन पान का सौभाग्य न प्राप्त हुआ था । संभव है, लोलिचराज ने और कोई बहुत प्रथम ग्रन्थें ही, जिनका एता अर्थात् तब किन्हीं को न समा हो, अथवा देश विद्वान् के कारण वे नष्ट हो गये हों ।

ऊपर जिस जनधृति का उल्लेख किया गया है उसमें कहीं गई इस बात का प्रमाण लोलिचराज के लेख में मिल गया कि वे दक्षिणार्ण्य से और सप्तर्षि-पर्यन्त पर उद्योग देवी की उपासना की थी । परन्तु इस बात का पता ही-हीन नहीं लगता कि वे किस समय हुए । इतिहासकार काल के प्रति वर्ग के अंत में एक श्लोक है, पितृका पाठ मय मर्गों में प्रायः एक ही-सा है । दो मर्गों में, भोगरी पत्रि में, कुछ अंतर है, और कहीं मर्यादा । वे मर्गों में हैं—

यह श्लोक अपहृति अलंकार का एक बहुत अच्छा उदाहरण है, परंतु इतने से लोलिवराज को भोज का समकालीन बतलाना युक्तिसंगत नहीं। हम नहीं कह सकते कि यह पद्य किस लोलिव से संबंध रखता है, वैद्यजीवन आदि के कर्ता लोलिवराज से, अथवा इस नाम के और किसी दूसरे कवि से। फिर इसका भी क्या प्रमाण कि किसी ने भोज के अनंतर उनके और लोलिवराज के नाम से यह श्लोक नहीं बना डाला? चरलाल-मिश्र के संकलित किये हुए भोजप्रबंध को जब हम देखते हैं तब वहाँ कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ, मटिलनाथ, श्रीहर्ष आदि सभी कवियों की उक्तियाँ भोज के विषय में पाई जाती हैं। जिन कवियों का वहाँ नाम आया है उनमें परस्पर सैरुई वर्ष का अंतर है। इसीलिए ऐसे श्लोकों से ऐतिहासिक तत्त्व का पता लगाना कठिन है। फिर, भोज एक विद्वान् राजा था, वह कवियों को आदर की दृष्टि से देखता था। अतएव यह कहना कि उसने लोलिवराज को हँठ की उपमा दी, मानाँ उसके सिर पर असिकता और असभ्यता का मुकुट रखना है।

लोलिवराज की कविता में आधुनिकता के चिह्न पाये जाते हैं। उनमें से फारसी के शब्द "सुलतान" और "पादशाह" बड़े ही जावज्यमान चिह्न हैं। ऊपर एक श्लोक दिया जा चुका है जिसमें लोलिवराज ने "सुलतान" शब्द का

प्रयोग किया है। एक श्लोक अथ हम घेद्यायतंस से श्वा
उद्धृत करने हैं, जिसमें "पादशाह" शब्द आया है—

समस्तपृथ्वीपतिपूजनीयो

दिग्द्वनादिलष्टयश्च शरीरः ।

गुणप्रिय घन्यममु श्यतानी-

लोलिहराजः कविपादशाहः ॥

दिशारूपिणी स्त्रियों ने जिसके यशोरूपी शरीर का
आतिगन किया है, जो समस्त राज-वर्ग का पूजनीय है,
जो कवियों का पादशाह है—ऐसे लोलिहराज ने गुणदानों
के प्रीतिपात्र इस प्रबंध की रचना की।

गुणदानों के प्रीतिपात्र इस घेद्यायनम में येयत ५८ श्लोक
हैं और उनमें येयकशास्त्र के अनुसार पदार्थों के गुण श्लेष का
वर्णन है। इस पद्य में अर्थों को सब राजाओं का पूजनीय
बहुकर और अर्थों यशःशरीर की दिग्गम में पहुँचाकर लोलिह-
राजजी कवियों के पादशाह बन गये हैं। ये "पादशाह"
और "मुगताग" शब्द हम बात की साक्षी दे रहे हैं कि उम
कमय मुगलमानी का प्रवेश दरिग में हो गया था और
उनके द्वारा बहुत-से फारसी शब्द लोगों के पास तक पहुँच
गये थे। दरिग में घीतापुर का मुगलमानी राज्य बहुत
पुगाता है। टिपानों के कई गीं दर्भ परसे परीं मुगलमानी
का राज्य मनादिग हो गया था। अतः यह बात पक्का है कि
मुगलमानी का प्रवेश दरिग में हो। के अतः लोलिहराज

का उदय हुआ है। अर्थात् वे कोई चार पाँच सौ * वर्ष के इधर ही हुए हैं। भोज के समय लोलिबराज का होना, बिना किसी दृढ़ ऐतिहासिक प्रमाण के, नहीं माना जा सकता। लोलिबराज ने जिन सूर्य और हरिहर राजाओं

* महाजनमडल नामक गुजराती पुस्तक के कर्ता ने लोलिबराज का होना शक १५५५ अर्थात् १६३४ ईसवी के लगभग माना है। इससे हमारे कथन की पुष्टि होती है। इस पुस्तक में लिखा है कि लोलिबराज जुन्नर के निवासी थे। यह नगर दक्षिण में पूना जिले में है। परंतु ये सब बातें निराधार लिखी गई हैं। इनका कोई प्रमाण इस पुस्तक में नहीं। लोलिबराज के तपस्या करने और अपने शरीर का मास होमन आदि के विषय में भी हमें प्रायः वही बातें लिखी हैं जो हमने लिखी हैं। इस पुस्तक में इतना अधिक लिखा है कि लोलिबराज की द्वा रत्नकला "बादशाह" की लडकी थी। बादशाह ने लोलिबराज से पूछा कि हमारी गर्भवती रानी के लडका होगा या लडकी। पूछने के समय बादशाह की युवा कन्या उनके पास खड़ी थी। उसे देखकर लोलिबराज ने कहा कि मेरा उत्तर ठीक निकलने पर यदि आप मुझे यह कन्या देना स्वीकार करें तो मैं आपके प्रश्न का उत्तर बतला दू। बादशाह ने यह बात अंगीकार कर ली। लोलिबराज ने कहा, आपकी रानी के पुत्र होगा। पुत्र ही हुआ और वह कन्या लोलिबराज को मिल गई। उसके साथ उन्होंने विवाह किया और उसका नाम रत्नकला रखा। यदि यह बात सत्य है तो लोलिबराज भी हमारे पंडितराज जगन्नाथ राय के साथी हुए। परंतु महाजनमडल के कर्ता ने इन बातों का कोई प्रमाण नहीं दिया। यह भी नहीं लिखा कि वह "बादशाह" कौन था और कहाँ का था।

बादशाह की युवा लडकी का पूरा अपरिचित के सामने, अपने पिता के पास, खड़ा रहना हमें तो सभ्य नहीं जान पड़ता।

का नाम अपने ग्रंथों में दिया है उनका कुछ भी पता नहीं चलता। चोल, कर्णाटक, पांड्य और आंध्रदेश के राजाओं की जो नामावली अब तक प्राप्त हुई है उनमें इन राजाओं का नाम नहीं। जान पड़ता है, ये कोई छोटे मांडलिक राजा थे। वैद्यक का प्रसिद्ध ग्रंथ वाग्भट्ट, चरक और सुश्रुत से उनका पीछे का है। हम वाग्भट्ट का उल्लेख लोतिपराज ने अपने वैद्यावतंस में किया है, जिससे यह सिद्ध है कि लोतिपराज वाग्भट्ट के पीछे हुए है। और वाग्भट्ट का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है।

लोतिपराज ने अपने मुँह अपनी मनमानी प्रशंसा की है। ऐसी प्रशंसा के कई उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। यहाँ पर एक उदाहरण हम और देने हैं, क्योंकि उसमें उन्होंने अपने पिता का नाम लिखा है। यह श्लोक वैद्य-जीवन के अंत में है—

आयुर्वेदवैद्योऽत्रिग्यात्मनो धन्यतरि. केशव
 मीमा मातृदिश द्रियाश्चमुधानोऽधिप्रपामायनि. ।
 उर्ध्वं कविनायता मतिगता भूभृत्तान्भूयवं
 कालोऽप्यह्वयवर्जितमिदं लोतिपराज कविः ।
 अर्थात्, आयुर्वेद में तो धन्यतरि के समान है, मातृदिशा
 के जानेवाली की सा गोता है, द्रियाश्चर्मा सुधानमुद
 का तो केशव है, कविों का तो किशोर है, और राजाओं

लोलिवराज के ग्रंथों में वैद्यावतंस बहुत ही छोटी पुस्तक है। जैसा ऊपर कहा गया है, उसमें केवल १८ श्लोक हैं और उनमें पदार्थों के गुण-दोष का विवरण है। वैद्यावतंस के आदि और अंत में लोलिवराज ने मंगलाचरण के जो दो श्लोक लिखे हैं वे, सानुप्रास होने के कारण, बहुत ही मनोहर हैं। उनमें से पहला श्लोक यह है—

अनुकृतमरकतवर्णा शोभितकर्णा कदम्बकुसुमेन ।
नखमुखमुखरितवीणा मध्ये क्षीणा शिवा शिव कुर्यात् ॥

मरकतमणि के वर्ण का जिसने अनुकरण किया है, कदम्ब पुष्प से जिसके कान शोभित हैं, नख से जो वीणा का बजा रही है—ऐसी क्षीणकटी शिवा (पार्वती) मंगल करे !
दूसरा, अर्थात् वैद्यावतंस का १७वाँ श्लोक यह है—

अधरन्यकृतविवा जितशशिविम्बा मुखप्रभया ।
गमनाविरलविलम्बा त्रिपुलनितम्बा शिवा शिवं कुर्यात् ॥

अपने अधरों से विवाफल का धिकार करनेवाली और मुख की कांति से चद्रविद्य को जीतनेवाली, मंदगामिनी तथा विस्तृत-नितम्ब शालिनी शिवा मंगल करे !

यह अनुमान होता है कि वैद्यावतंस लोलिवराज का पहला ग्रंथ है। इसमें इन दो श्लोकों के अतिरिक्त, हमारी समझ में, एक ही और श्लोक है जिसे बहुत अच्छी कविता कह सकते हैं। करले के गुणों का वर्णन करते हुए लोलिवराज उसकी प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—

नाम्यूनदीया प्रतिमां यदीयां वक्ष म्धले धामरथो वहन्ति ।

अशेषशायालिमडनयं तन्कार्थेन न लभेत कस्मात् ?

अर्थात्, जिम्हको चुपचाप की प्रतिमा को दिखाया अपने हृदय पर धारणा करती है वह करेला क्यों न मय शाकों में थोड़ा समझा जाय ? इसमें जो धरति है वह महज ही ध्यान में आ जाने-योग्य है ।

रचना की प्रगल्भी और कविता के गौरव-नाथर का विचार करने से जान पटना है कि हर्गिताम को लोलिहराज ने देखापनल से पीठे बनाया है । जेमा ऊपर लिखा जा चुका है, हरिदिलान में केवल ५ सर्ग हैं और मय रागों का मिला-पर ३१४ श्लोक हैं । इन काय में उदय-संशु तत्र कृपा की लीला का सूचित वर्णन है । इसकी कविता प्रायः सरल है । लोलिहराज की कविता का मयमें पड़ा गुण यह है कि वह सरल होकर मय नों है । हर्गिताम के कोई-कोई पद्य पढ़ा ही हृदयप्राप्ती हैं । यहाँ पर हम संघन ही पर देकर संक्षेप करेंगे । यथा यथा—

पारस्त्रीय पतन्धरो मयायां मोना पनागयहं

पाम्थारीरुपति इत मरुत इव पूरु मूर्ध्नि-मय ।

शृणुत मगुल समार्यामि मय प्रतिष्ठा यथा

महिः स्त्रीदयो इत मृपतन्नामगौरव ज्ञान्यं मयायुः ।

यात यमिना से मयाय एत की भूमि में प्रतिष्ठा मर्द-ज

अना को धारण किया; सोर से मयाय मयय पण्डितों को

कठोर चार्णों से पीड़ा पहुँचाने लगा, गुणवान् राजा के समान शृंगार-रस ने ऊँची प्रतिष्ठा पाई, और नवला कामिनी की लज्जा के समान रात्रि ने क्रम-क्रम से कृशता स्वीकार की, अर्थात् छोटा होना आरंभ किया। देखिए, कैसी मनोहर उपमाओं के द्वारा, कैसी सरल रीति से, लोलिवराज ने वसंत का आगमन वर्णन किया है। इनकी उपमाएँ प्रायः बहुत अच्छी हैं। हरिविलास से शरद्वर्णन का एक श्लोक हम और उद्धृत करते हैं—

वृद्धाङ्गनेव विजहौ सरिदुद्धतत्वं,

वेदान्तिनामिप्र मत शुचि नीरमासीत् ।

चद्रे प्रभा युवतिवक्त्र् इवाद्भुताभू-

द्विद्वत्कवित्वमिव फेकिरुतं न रेजे ॥

वृद्ध स्त्री के समान नदियों ने अपनी उद्धतता छोड़ दी, वेदांतियों के मत के समान जल स्वच्छ हो गया, कामिनी के मुखमंडल के समान चंद्रमा अधिक शोभायमान हुआ, और विद्वानों की कविता के समान मोरों की फेका अरोचक हुई। इस पद्य के चांये चरण में लोलिवराज ने एक श्रमूल्य बात कही है। सच है, विद्वान् होने से ही कोई कवि नहीं हो जाता। यदि उसमें कवित्व-शक्ति का स्वाभाविक बीज नहीं, तो मनुष्य चाहे जितना उद्द विद्वान् हो, उसकी कविता कदापि सरल और मनोहासिणी नहीं होती। रस ही कविता का प्राण है और जो यथार्थ कवि है उसकी कविता

में रस अग्रक्ष्य होता है। नीरस कविता कविता ही नहीं।
लोलियराज ने घंघजीवन में ठीक कहा है—

यतो न नीरसा भाति कविताकुलकामिनी ।

अर्थात्, कविता-रूपिणी कुल-कामिनी नीरस होने से
शोभा नहीं पाती।

लोलियराज के ग्रंथों में घंघजीवन सबसे श्रेष्ठ है। यद्यपि
इसका विषय घंघक है, तथापि इसे काव्य ही कहना चाहिये।
इसमें काव्य के प्रायः सभी लक्षण विद्यमान हैं। कोई श्लोक
केसा नहीं जिसमें लोलियराज ने कोई-न-कोई मनोरंजक
उक्ति न पढ़ी हो। इसमें उन्होंने अपनी अष्टौ कवित्व शक्ति
दिगार है। पार्वती के स्तन पान करने का प्रभाव यदि कहीं
वृद्ध दर्शित होता है तो इसी ग्रंथ में दर्शित होता है। हमने
श्री अजुमदशाली घंघों से सुना है कि घंघजीवन में पढ़ी
गई श्लोकधियाँ भी सब प्रायः अजुभूत शतपर्य्य अर्थ्य हैं।
इसमें जो पाठे हैं वे, सुनने हैं, बिना अपना सुख दिगारें नहीं
रहने। इस ग्रंथ को लोलियराज ने अपनी श्री राजकमा को
स्वरोधन करके पढ़ाया है और किसी किसी श्लोक में उगने
हमारे जगते दिगारें गिये हैं। अभिराज ग्रंथ शृंगारिक
भावों में भरा हुआ है। इसमें पढ़ी उगमा, पढ़ी रूपक, पढ़ी
पूरा, पढ़ी शक्ति, पढ़ी संतानारिवा, पढ़ी यत्नारिवा,
पढ़ी जगत् सुत, पढ़ी शिवा ह्य, पढ़ी वृद्ध, पढ़ी वृद्ध हैं।
लोलियराज ने इसे हृदयगरी पढ़ाने में कोई शक्य नहीं की।

इसमें सब मिलाकर पाँच विलास हं, और प्रत्येक विलास में नीचे लिखे अनुसार विषययोजना और श्लोक संख्या है—

विलास	विषय	श्लोक-संख्या
—	—	—
प्रथम	ज्वर-प्रतीकार	७६
द्वितीय	अतीसार और ग्रहणी-प्रतीकार	२६
तृतीय	कासश्वास-प्रतीकार	३६
चतुर्थ	राजयक्ष्मादि-रोग-प्रतीकार	४३
पंचम	वाजीकरण	२१
	जोड़	२०५

अब लोलिचराज की रसिकता के दो-चार उदाहरण सुनिष । वैद्यजीवन के आरंभ में आप कहते हैं—

येषां न चेतो ललनासु लग्नं
मग्न न साहित्यसुधासमुद्रे ।
ज्ञास्यन्ति ते किं मम हा प्रयासा-

नन्धा यथा वारवधुविलासान् ॥

जिन्होंने साहित्यरूपी सुधा-समुद्र में डुबकी नहीं लगाई और जिनका मन ललनाओं में लीन नहीं, वे इस ग्रंथ की रचना करने में होनेवाले मेरे परिश्रम को उसी प्रकार न जान सकेंगे जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य धार वनिताओं के हाव-भावों को नहीं जान सकते । वैद्यजीवन बनाने में क्या आपको सबमुच ही बड़ा परिश्रम हुआ ? एक घड़ी में सौ

श्लोक यनानेवास्ते को २०५ श्लोक लिखने में कितना धम हो सकता है ? यह बात लोलियराज की बहुत यथार्थ है कि जिसे साहित्य शास्त्र का ज्ञान नहीं वह कवि के कर्तव्य को अच्छी तरह नहीं जान सकता। श्रीकठचरित में लिखा है—

दिना न साहित्यविदा परम -

गुण कथञ्चित् प्रपन्ने कर्मीनाम् ।

आलम्ब्यते तत्परणमस्मान्नीव ।

विम्नारमयस्य न तेलविट्टुः ॥

अर्थात्, साहित्य शास्त्र के ज्ञाना विना, कवियों के गुण अच्छी तरह नहीं विस्तार पाने। तेल का बूँद पानी ही पर फलना है।

लोलियराज की उपमाएँ बहुत अच्छी हैं। यद्यपि वे बहुत नहीं हैं, तथापि जैसी चुस्तोनी है कि उनके काव्य काफी फटो हुए उल्लिख्य में अकिम-बरी हो जाती हैं। उनकी सारी उपमाएँ प्रायः भृंगार-रम्यात्मक हैं, यद्यपि उन्हें जानकर नहीं। दो एक सुनिष्ठ—

गृह्णामोहा प्रपन्नं प्रयानि

निम्नप्रयागेतितां ज्ञेयात् ।

पथा नराणा धनिना धनानी

ममागमात् दारदिताविवीजान् ॥

श्रीम ३ वीं भाग पद्यों के फल का स्पष्ट करने में सुरा, दाह और शीत इस प्रकार मध्य हो गये हैं किम प्रकार

ध्री—बेल

धन—नागरमोया

धान्य—धनियाँ

विश्व—साँठ

अर्थात्, जिसको अतीसार नहीं है उसे इन औषधियों के होने से कोई लाभ नहीं। इनके काढ़े में अतीसार जाता रहता है।

एक छोटा-सा कूट श्लोक सुनिष—

रावणस्य सुतो हन्यात् मुखमारिजधारित ।

श्वसन कसनं चापि तमिवानिलनन्दन ॥

अर्थात्, मुखकमल में रखने से रावण का लड़का, श्वास और खाँसी दोनों का वैसे ही नाश करता है जैसे उसका (रावण के लड़के का) नाश परमसुत ने किया था। एनूमान के हाथ से मारे जानेवाले रावण के लड़के का नाम अक्ष था। अक्ष बहेड़े को कहते हैं। अर्थात् बहेड़े को मुँह में रखने से श्वास और खाँसी जाती रहती है।

लोलिपराज की एक महिलापिशा सुनाकर हम इस व्यापार से विरत होंगे—

मिन्दन्ति के कुञ्जरकर्णपालि

किमव्यय वक्ति स्ते नबोढा ।

सन्मोधन नु किनु रक्षपित्त

निहन्ति यामोरु । उद त्वमेव ॥

हे वामदेव (अच्छी जपवाली) ! तू मुझे यह बतला कि हाथियों के मस्तक का विदारण कौन करता है ? उत्तर— 'सिंहा.' । यह भी बतला कि नगला कामिनी रतोत्सव के समय किस अन्यय का उच्चारण बार-बार करती है ? उत्तर— 'न' । यह भी तू बतला कि 'नु' शब्द का सवोधन क्या है ? उत्तर— 'न' । और यह भी बतला कि रक्त पित्त का नाश कौन ओषधि करता है ? उत्तर— 'सिंहानन' । अर्थात् "सिंहा, न, न" इन तीनों शब्दों को एकत्र करने से 'न' आगे होने के कारण 'सिंहा' के प्रिसर्ग का लोप हो गया और 'सिंहानन' शब्द सिद्ध हुआ । सिंहानन नाम अक्षुसे का है । अक्षुसे के काड़े से रक्त पित्त जाता रहता है ।

धैर्यजोधन की कविता बहुत मनोहारिणी है । परंतु अब अधिक उदाहरण उद्धृत करने की जरूरत नहीं । लोलिहराज की जितनी कविता उपलब्ध हुई हैं उसमें यह प्रमाणित होता है कि वे अछूटे कवि थे । उनकी कविता में झिष्टता शेष नहीं । यह उनके ग्यानात्मिक कवि होने का प्रमाण है ।

अर्थस, १९१३

फ़ारसी-कवि हाफ़िज़

हाफ़िज़ फ़ारसी का बहुत बड़ा कवि हो गया है। उसे फ़ारसी के कवियों का शाहशाह कहना चाहिए। गुलिस्ताँ और बोस्ताँ के लिखनेवाले शेख़सादी से भी, कविता में, उसकी चराचरी नहीं की जा सकती। कविता से जहाँ तक संबंध है हाफ़िज़ को फ़ारसी का कालिदास कहना चाहिए। हाफ़िज़ में कवित्व शक्ति अपूर्व थी। वह स्वाभाविक कवि था। उसकी उक्तियाँ ऐसी भावगर्भित और ऐसी नैसर्गिक हैं कि पढ़ते ही हृदय पर विलक्षण प्रभाव उत्पन्न करती हैं। प्रेम, पूज्यभाव और आतक-सर्मा—यथास्थान मन में आविर्भूत हुए बिना नहीं रहते। ऐसे गंभीर भाव, ऐसी हृदयद्रावक उक्तियाँ, सरल होकर भी ऐसी परिमाजित भाषा, फ़ारसी में, हाफ़िज़ के “दीवान” में ही मिल सकती है, अन्यत्र बहुत कम। परंतु ऐसे महाकवि के जीवन का बहुत ही कम वृत्तांत जाना गया है।

हाफ़िज़ का नाम मुहम्मद शम्सुद्दीन है। हाफ़िज़ उसका तख़ल्लुस था। अपने दीवान में उसने इस तख़ल्लुस का बहुत ही अधिक प्रयोग किया है। इसीलिए वह अपने मुख्य नाम से प्रसिद्ध नहीं, तख़ल्लुस से ही प्रसिद्ध है।

हाफिज के माता पिता श्रद्धों दशा में थे, परन्तु हाफिज ने इरिद्रायरुहा ही में अपनी उम्र बिताई। यह बात उसकी कविता से सूचित होती है। वह फारस के शीराज़ नगर में, ईसा की चौदहवीं सदी के आरम्भ में, उत्पन्न हुआ और यहीं बूढ़ा होकर मरा। यह ठोक-ठोक नहीं मालूम कि किस सन्, किस महीने, और किस तारीख को उसका जन्म हुआ, परन्तु उसके मरने का समय निश्चय-पूर्वक ज्ञात है। शीराज में उसकी ओ क्रम है उस पर ७६१ हिजरी, अर्थात् १३७३ ईसवी, गुदा हुआ है। उस पर एक शायर ने उसके मरने की तारीख भी यह लिखी है—

چراغ اجل ممدی حواحه حافظ
 که شمع روزی از نور کمالی
 چو نور خاک متلی بافت مدول
 که کارش از خاک وصلی
 निराणे अमले मातो शराज हाफिज
 कि शमण बुद्ध अज्ञ नूरे गणना
 शु दर खाके मुगल्या यास्त मजिल
 विजो तारीख अज्ञ खाके मुगल्या
 अर्थात्

अर्धशताब्दों के दीपक इराजा हाफिज ने, जो कि गुदा के तेज की मशयान था, खाके मुगल्या (इराज या ममाज़ पदम की जगह) में निधन पाया। शायी तारीख

दर्शी हो गया। शेख मुहम्मद अत्तार नाम के प्रसिद्ध फकीर से उसने दर्शन-शास्त्र सीखा। कुछ दिनों में हाफिज भी शेख साहब का अनुयायी हो गया। उस पर शाह के वजीर हाजी कयामुद्दीन की बड़ी कृपा थी। उसने विशेष करके हाफिज ही के लिए एक कॉलेज खोला। उस कॉलेज में हाफिज कुरान पढ़ाने पर मुक़र्रर हुआ। परंतु हाफिज का स्वभाव बहुत ही उच्छृंखल था। वह मद्यप भी था। उस चाहरी दिखाव विलकुल पसंद न था। वह कहता था कि अमीर और गरीब दोनों का ईश्वर एक ही है। उसके लिए मसजिद, मंदिर और गिरजाघर तुल्य थे। इसलिए उसके साथी अध्यापकों तथा और-और विद्वानों ने भी हाफिज के आचरण पर कटाक्ष करना आरंभ किया। हाफिज से भी मौन नहीं रहा गया। उसने भी अपनी कविता में उन लोगों की छूय दिल्ली उड़ाई और उनकी अंध-धर्मभीरुता, उनके दामिक आचरण और उनके मिथ्या विश्वासों पर, मोक्रा हाथ आते ही, बड़े ही मर्म-भेदी व्यंग्य कहे। हाफिज को लोग कुछ-कुछ नास्तिक समझते थे। और-और बातों के सिवा इसका एक कारण यह भी था कि हाफिज ने मंसूर नाम के पहुँचे हुए फकीर की प्रशंसा में कविता की थी। यह फकीर अपने को "अनल-दक़" (अहं ब्रह्मास्मि) कहता था। बड़ी दुर्दशा करके उसे फाँसी दी गई थी, परंतु अत तक वह "अनल-दक़" ही कहता रहा।

हाफिज की कीर्ति बहुत शीघ्र देश-देशान्तरों में फैल गई। उसकी मनोमोहिनी कविता का रस-पात करके लोग मत्त होने लगे। अनेक शक्तिशाली चादशाहों और अमीरों ने उसे अच्छे अच्छे पारितोषिक भेजे। किसी किसी ने हाफिज को बड़े प्रेम से अपने यहाँ आने का आदाहन किया। सुनते हैं, अफ़्ग़ान में, बीजापुर के चादशाह महमूदशाह बहमनी ने भी हाफिज को अपने यहाँ, इस देश में, पधारने के लिए निमंत्रण के साथ अहाज़ भेजा था। इस आमंत्रण को हाफिज ने स्वीकार भी कर लिया था। यहाँ तक कि इमामान को आने के लिए वह शीराज़ से चल भी दिया। परन्तु सामुद्रिक मकर में उसे कुछ कष्ट हुआ। इसलिए कुछ दूर आकर वह शीराज़ को लौट गया। उस समय बंगाले के मुसलमान सूरेदार ने भी, सुनते हैं, उसे बुलाया था, परन्तु उसने आदि-पूर्वक इस निमंत्रण को भी अस्वीकार कर दिया। परन्तु अधिकारी गटिया इब्न मुनक्कर के बहुत कहने-सुनने पर, एक बार हाफिज उसके यहाँ गया। पर यहाँ जाने से उसे प्रसन्नता न हुई। थोड़े ही दिनों ही वह शीराज़ लौट आया और फिर नहीं आया। उसने उस शहर को नहीं छोड़ा। जब तक वह परस में था, शीराज़ को लौटने के लिए वह बहुत ही उत्सुक था।

हाफिज के गृहस्थाश्रम जीवन में विषय में बहुत ही कम बातें ज्ञात हैं। उसने एक कविता में अपनी स्त्री की और

ये दरवेश दीवाने-हाफिज़ से अच्छी अच्छी उक्तियाँ सुना कर यात्रियों को प्रसन्न करते हैं। जिस जगह हाफिज़ को समाधि है उसका नाम खाने-मुसल्ला है।

हाफिज़ ने यद्यपि और कई छोटी-छोटी किताबें लिखी हैं परन्तु उसका दीवान सबसे अधिक प्रसिद्ध है। वह हाफिज़ की कही हुई उत्तमोत्तम गज़लों का संग्रह है। प्रत्येक गज़ल में पाँच से लेकर सालह तक वैया है। प्रायः प्रत्येक अंतिम वैया में हाफिज़ ने अपना नाम दिया है। हाफिज़ की गज़लें वर्ण-क्रमानुसार रखी गई हैं। इससे यह नहीं जाना जाता कि कौन गज़ल पहले और कौन पीछे बनी है।

हाफिज़ की कविता के विषय में बहुत मत-भेद है। कोई कोई कहते हैं कि उसमें केवल पार्थिव प्रेम और लौकिक बातों का वर्णन है। परन्तु कोई-कोई इसके प्रतिकूल मत देते हैं। वे कहते हैं कि हाफिज़ ने जो कुछ कहा है सब अलौकिक और अपार्थिव विषय में कहा है—अर्थात् उसकी कविता केवल दृश्यानी है, वह केवल ईश्वर-विषयक है। यह मत सुफ़ी-संप्रदाय के मुसलमानों का है। वे हाफिज़ की कविता को ईश्वर पर घटाते हैं और कहते हैं कि उसका यथार्थ भोज समझने की कुंजी केवल उन्हीं के पास है। परन्तु जिन्होंने हाफिज़ की कविता का बहुत ही प्रशंसा किया है और अनेक काल तक उसके परिशीलन में उत्तम पार्थिव विषय

नी हैं और अपार्थिव भी । उसका सृष्टि-सादर्य-वर्णन, उसकी मनोमोहिनी शृंगारिक उक्तियाँ और मद्य प्राशन विषयक उसके विलक्षण कथन आदि का विचार करके विद्वानों का मत है कि इन सब बातों को हाफिज ने ईश्वर को लक्ष्य करके नहीं कहा । इन बातों का साधुता अर्थात् फ़कीरी से बहुत कम संबंध है ।

हाफिज की कविता स्वाभाविक है । उसकी कल्पना शक्ति बहुत उड़ंड है । उसकी किमी किमी कल्पना को सुनकर हृदय में आतक-सा उत्पन्न हो जाता है । उसने कोई-कोई बात बहुत ही अद्भुत कही है । उसके दीवान की कई आवृत्तियाँ बर्लिन, लन्दन और पेरिस में छपी हैं । उसकी कविता के अनुवाद भी विदेशी भाषाओं में हो गये हैं । सर विलियम जोंस और अध्यापक कारेल, यमरसन और डि हर बेलाट आदि ने उस पर बहुत कुछ लिखा है । बंश के भीमूत के० एम्० जोहरी, एम्० ए०, एम्० एल्० बी० ने भी दीवाने हाफिज का अनुवाद अंगरेज़ी में किया है । फ़ारिस में हाफिज की कविता का इतना अधिक प्रचार है कि बर्सा के पढ़े लिखे सामाजिक मनुष्यों को यह कंठ रहती है । धरीब और अमीर मनी उसकी कविता का आदर करने हैं । फ़ारिस के रेगिस्तान में दूर-दूर तक मक़दर करने वाले कब्रों और क़ों के आक़रेवाले, हाफिज की क़ज़्ज़ों को बड़े श्रेय से मानें हैं और पन्ना करके मर्ग का ज़म

परिहार करते हैं। हाफिज फारिस का सबसे अधिक प्यारा और प्रसिद्ध कवि है।

फारिस के विद्वान् समालोचकों का मत है कि हाफिज की कविता निकरमी—दूषित—टहराई जा सकती है, परंतु उसकी तुलना और किसी कविता से नहीं की जा सकती। उसकी कविता अनन्वयालंकार का सच्चा उदाहरण है। उसकी समता उसी से हो सकती है और किसी से नहीं। वह वही है। हाफिज ने जो कुछ कहा है, नया ही कहा है। उसकी उक्तियों में उच्छ्रिता नहीं। उसमें दोष हो सकते हैं, परंतु जैसे दोष उसी में पाये जा सकेंगे, और कहीं नहीं। उसकी कविता में जो रमणीयता है वह उसी में है। उसे अन्यत्र ढूँढना व्यर्थ है।

हाफिज के बराबर प्रतिभाशाली कवि होना दुर्लभ है। उसके समान ललित और मधुर-भाषी दूसरा कवि, संस्कृत को छोड़कर, और भाषाओं में नहीं पाया जाता। हाफिज की कविता का आनंद, उसके दीवान को फारसी ही में पढ़ने से, अच्छी तरह आ सकता है। अनुवाद में वह रस नहीं आता। हाफिज को, पंडितराज जगन्नाथराय की तरह, अपनी कविता का गर्व भी था। उसने कई जगह, इस विषय में, गपौक्तियाँ कही हैं—ये गपौक्तियाँ चाहे सचमुच ही अभिमान-जन्य हों और चाहे यों ही स्वाभाविक रीति पर उसके मुँह से निकल गई हों। पर उसके मुँह से उसकी

गर्वाङ्गियों भी अच्छी लगती हैं। वे उसी प्रकार निकली हैं जंगे फूलों से मकरन्द टपकता है अथवा इन्धु में रस निकलना है।

यहाँ पर, हम, हाफिज की रसवती कविता के दो चार नमूने देना चाहते हैं और साथ ही मुशी नानकचटर्जी का किया हुआ पद्यात्मक अनुवाद भी हम प्रकाशित करते हैं—

(१)

صدا اگر کدرے آفتاب نکشور دوست
دیار نیکو ار کیسورے معذرے دوست

शशरंतर

सदा अगर गुजरे अस्तित्व बकिश्वरे दोस्त ।

दियार नफहण अन रोडुण मुअंपरे दोस्त ॥

अनुवाद

पवन मील जो कभी जाय तू मेरे प्राणप्यारे से देन ।

उतरो, केश सुगणित मे हुए से आना सुगंध का लेण ॥

(२)

دعاں او کہ وشکرادہ جان ہوا نشام
اگر نہوے میں آری پیغام آورے دوست

अभ्रराज

ध्रामे ऊ कि बगुधान त्रिं बन्धुशाम ।

अगर बन्दे मन धारी पयामे अत्रवरे गंमन ॥

अनुवाद

प्यारे की है शपथ करूँ मैं तुझ पर नौछावर निज प्राण ।
एक सँदेसा प्राणनाथ का जो तू मुझको देवै श्रान ॥

(३)

اگر چندانچه در آن حصرت باشد بار
برای دیدہ بیاور مدارے ار در دوست

अक्षरांतर

अगर चुनाँच दरौँ हजरतन न घाशद बार ।
वराय दीद बियावर गुवारे अज दरे दोस्त ॥

अनुवाद

और न जो तू जाने पावै उसके सम्मुख किसी प्रकार ।
नैनों के अंजन को रजकण लादे उसका द्वार बुहार ॥

(४)

دل شون لبت مدام دارد
يارب رلب چه کام دارد

अक्षरांतर

दिल शौक़े लवत मुदाम दारद । -
यारव ज लवत चि काम दारद ॥

अनुवाद

मन में तेरे अधर की रहत निरंतर चाह ।
कौन हेत जाने हगो कछू न याकी थाह ॥

(५)

حاج شربت مهر و بادۀ سون
در ساعر دل مدام دارد

अक्षरान्तर

जों शरवते महरों बादप शौक्र ।
दर सागरे दिल मुदाम दारद ॥

अनुवाद

मधुरामव-अनुराग अरु प्रेम-धारुखी-बार ।
अंतर घट में भर रहे निज मन मुहुर निहार ॥

(६)

شوردد رلف بار دالم
در دام ولا مقام دارد

अक्षरान्तर

शोरीदप जुरदे यार दायम् ।
दर दामे पला मुदाम दारद ॥

अनुवाद

शुँघरारी सट की लगी जावे मन को लग ।
भाग पाग में बह रहे बँधी सबल मुल त्याग ॥

(७)

بايار احيا بشعند آنكو
اندشه حاس و عام دارد

बौद्धाचार्य शीलभद्र

एक समय था जब भारतवर्ष के बड़े-बड़े विद्वान् चीन, लका और तिब्बत आदि देशों में जाकर विद्या और धर्म की शिक्षा देते थे। एक यह समय है कि हमी को अन्यान्य देशों में जाकर विद्योपार्जन करना पड़ता है। विदेशी धर्माचार्य अब हमें यह उपदेश देने आते हैं कि तुम्हारा धर्म निःसार है, हमारे धर्म को स्वीकार करने ही से तुम्हें मुक्ति मिलेगी। और, इसका कुछ रज नहीं, उत्थान और पतन सबके पीछे लगा हुआ है। रज इस बात का है कि हम अपने पूर्वजों की कीर्ति को, पांडित्य को, पराक्रम को विलकुल ही भूल गये हैं। उसका स्मरण तक हमें नहीं। हम यह भी नहीं जानते कि चीन ऐसे सम्य देश के पंडित हमारे पूर्वजों के चरणों पर भस्तरु रखने और उनसे विद्या धर्म सीखने आते थे। इन बातों के जानने के कुछ तो साधन कम रह गये हैं, कुछ हम लोगों में उनके जानने की प्रवृत्ति ही कम है। इसी से शीलभद्र ऐसे प्रख्यात पंडित का नाम तक लोग भूल गये थे। चीन से जो प्रवासी इस देश में आये थे उनके ग्रंथों से इस अद्वितीय विद्वान् के विषय में बहुत-सी बातें जानी गई हैं। उनके तथा दो एक बौद्ध ग्रंथों के आधार पर

“डान”-नामक अँगरेज़ों मासिक पुस्तक में शीलभद्र पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसे पढ़ने से शीलभद्र का सश्रित वृत्तांत मालूम हो सकता है।

शीलभद्र छठी शताब्दी में थे। नालंद विश्वविद्यालय के वे अध्यक्ष थे। भारतवर्ष भर में उस समय कोई भी शास्त्रज्ञ विद्वान उनका समकक्ष न था। ये वही शीलभद्र हैं जिनके पैरों पर प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपना मस्तक रक्खा था। ये पूर्वी बंगाल के रहनेवाले थे। टाका जिले के रामपाल-गाँव में इनका जन्म हुआ था। यह गाँव उस समय समतट-राज्य की राजधानी था। पालवर्षी राजाओं के पहले यहाँ ब्राह्मण-वर्षी राजाओं का राज्य था। शीलभद्र का जन्म राजवश में हुआ था। यदि राज्याधिकार की इच्छा से वे अपना देश न छोड़ते तो, बहुत समय था, उन्हें राजासन प्राप्त हो जाता। परंतु राज्यप्राप्ति की ओझा विधाप्राप्ति ही को उन्होंने भ्रेष्ट समझा। इसका फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म के विस्तृत साम्राज्य के ये सम्राट् हुए। उस समय नालंद ही बौद्धों का सबसे भ्रेष्ट विद्यालय था। उसमें १४१० अध्यापक थे और कोस १० हजार शिष्यों विद्यालयन करने थे। इन सब अध्यापकों के आत्मा शीलभद्र थे।

जिन्ह पद पर शीलभद्र अधिष्ठित थे उस पर उनके पहले किनसे ही नामों-नामों पेशिन और महात्मा अधिष्ठित रह

चुके थे। बौद्धों की माध्यमिक शाखा के आचार्य नागार्जुन इसी विश्वविद्यालय के आचार्य थे। यहीं उन्होंने बौद्ध धर्म के अनुयायियों को इस नई शाखा के सिद्धांतों का उपदेश किया था। महापंडित नागसेन ने यहीं से अपने उपदेशों के द्वारा ग्रीक नरेश मीनेन्द्रोसी की गंजाओं का समाधान करके उसके दृढ्यांधकार का नाश किया था। इसी विश्वविद्यालय के आचार्य-पद को सुशोभित करनेवाले गुणमति बोधिसत्व ने सांख्य-दर्शन का खंडन बड़ी ही निश्चयता से करके बौद्ध मत की प्रकृष्टता सिद्ध की थी। इसी विश्वविद्यालय की बदौलत प्रभामित्र नाम पंडित ने चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इस नालंद-विश्वविद्यालय के जिनमित्र नामक पंडित को तिब्बत नरेश ने अपने देश में बुलाकर बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त किया था। चंद्रपाल स्थिरमति, ज्ञानचंद्र और शीघ्रबुद्ध आदि पांडित्य-व्योम मंडल के चमकते हुए तारे यहीं उदित हुए थे।

शीलभद्र का आदि नाम दंतदेव था। लड़कपन ही से वे विलक्षण प्रतिभाशाली और तीक्ष्ण-बुद्धि थे। सोलह ही वर्ष की उम्र में उन्होंने वेद, सांख्य, न्याय और वैद्यक-शास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त कर ली। पर इतने ही से शीलभद्र को संतोष न हुआ। विद्यापरिशिलन विषयक उनकी पिपासा न बुझी। उस समय नालंद का विद्यालय भारतवर्ष में अपना द्वितीय न रखता था। आप वहीं पधारे। इतनी छोटी उम्र

में ढाका छोड़कर आप मगध आये। उस समय महापंडित धर्मपाल नालद के विद्वान् थे। यही उहाँ के सब से श्रेष्ठ आचार्य थे। शीलभद्र के बुद्धिप्राप्त्यर्थ ने उनको मोहित कर लिया। थोड़े ही समय में शीलभद्र ने अरन त्रिप्रागुरु के विद्या भांडार को ग्रहण करके अपने हृदय, षट् आर जिज्ञा के अर्पण कर दिया।

इसके कुछ समय बाद दक्षिण से एक पंडितराज मगर नरेश की सभा में आये। उन्होंने आचार्य धर्मपाल का शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। धर्मपाल सभा में बुलाये गये, पर दत्तदेव ने गुरु को शास्त्रार्थ करने जाने से रोका। मेरे रहते मेरे गुरु से शास्त्रार्थ ! पदलंबवद् पंडित मुझे परास्त कर ले, तब मेरे गुरुदेव का मुखायता करे। अन्यथा यह नहीं हो सकता। धर्मपाल अपने मच्छिष्य को योग्यता से कब्झी तरह परिचित थे। उन्होंने कहा—

“मिच्छिन्तु” — “गम्यता यत्” ।

इस आदेश से श्री अभ्यासक डरे। नता यह कलहा अल्पयपक्व दत्तदेव दिग्गो दादि प्राय पंडित का र्थमे मुखाय-
 चला कर मर्हणा ? कदा यह नासद् का नाम न धराते ?
 इस भाव की शंकाओं का उपासन करके उन्होंने आचार्य
 की आज्ञा का प्रतिपाद किया। पर आचार्य उर्मदाय न
 मर्हका समाधान कर दिया। दत्तदेव मगधराज के दरबार
 में अपना पांडित्य दिग्गो के मिल गवता हुए। साथ

से पीड़ित थे। बोधिसत्त्वों ने उन्हें बौद्ध धर्म का प्रचार करने और उस धर्म में दृढ़ विश्वास रखने का उपदेश दिया। इसके बाद वे अदृश्य हो गये। शीलभद्र का रोग भी जाता रहा। बोधिसत्त्वों ने चीन से आनेवाले प्रवासी ह्वेनसांग को बौद्ध धर्म का मर्म सिखलाने की भी आज्ञा दी।

इसके तीन वर्ष बाद ह्वेनसांग वज्रासन तीर्थ (बुद्ध-भया) में पहुँचा। यह खबर सुनते ही शीलभद्र ने ४ "श्रमण" उसे लेने भेजे। ह्वेनसांग ने इस आमंत्रण को बड़े भक्तिभाव से स्वीकार किया। तीर्थाटन करते हुए वह नालंद पहुँचा। २०० श्रमणों ने नालंद के विश्वविद्यालय के फाटक पर आकर उसकी अगवानी की। एक सहस्र बौद्धों ने स्तुति पाठ किया। बड़े समारोह से ह्वेनसांग विश्वविद्यालय में लाया गया। जब वह सभामंडप में पहुँचा तब उसे एक श्रेष्ठ आसन दिया गया। वहाँ के प्रधान भिक्षु ने आज्ञा दी कि जब तक ह्वेनसांग वहाँ रहे उसका वही आदर किया जाय जो एक भिक्षु या उपाध्याय का करना चाहिए। कुछ देर विश्राम करने के बाद २० अध्यापकों ने ह्वेनसांग को शीलभद्र के सम्मुख उपस्थित किया। उस समय शीलभद्र की उम्र १०६ वर्ष की थी। उनके तिर में एक भी चाल न रह गया था। वे विलकुल खल्लाट हो गये थे। ह्वेनसांग ने वंद-प्रणाम किया और शीलभद्र के पैरों को बड़ी भक्ति

से चूमा । शीलभद्र ने हेनसाग को अपने कर-कमलों से उठाया और आशीर्वाद दिया । हेनसाग उसी दिन से नालंदा विश्वविद्यालय का विद्यार्थी हुआ और कई वर्ष वहाँ रहकर बौद्ध आगमों का उम्मेद अध्ययन किया ।

अप्रिल १९०८



(६) भास्कर टीक्षित—आत्मपरीक्षा आदि का कर्ता ।

राजा रघुनाथ स्वयं संस्कृत और तैलंगी भाषा के अनेक ग्रंथों का कर्ता था । उसके संस्कृत के मुख्य मुख्य ग्रंथ ये हैं—

(१) पारिजात-हरण (२) नलाभ्युदय (३) अच्युताभ्युदय (४) रामायण-सार-संग्रह, (५) महाभारत-सार-संग्रह। इनके सिवा एक रामायण भी उसने तैलंगी भाषा में लिखी थी ।

राजा रघुनाथ नायक एक दिन अपने दरवार में दरवारी स्त्रियों से घिरा हुआ बैठा था । उनमें से एक ने उसकी रची हुई आंध्र-भाषा की रामायण से कुछ श्लोक गाकर सुनाये । दूसरी ने उसकी राम-भक्ति की प्रशंसा की । इससे उसके मन में जो विचार उत्पन्न हुए वे मधुगवाणी के निम्न लिखित श्लोकों में दर्शित हैं—

हरेश्चरित्रं गृह्ये तत्र रामकथासुधा कर्णगसायन न ।
आम्वाद्यमानाऽपि सहस्रवारमयातयामैव सुखस्य दोग्धी ॥
रसोत्तरं रामकथानुवन्त्रि काय मया कटपितमान्द्रवाण्या ।
कार्यं कया संस्कृतवाग्भिरेतदित्येवचित्ते गणयन्निवासीत् ॥

भावार्थ—रामचरित हजार चार सुनने से भी तृप्ति नहीं होती । मैंने आंध्र-भाषा में राम का जो चरित गान किया है उसे कौन रीं संस्कृत में लिख सकती है ।

यही सोचते हुए राजा दरवार से उठ गया । उसी रात को भगवान् रामचंद्र ने स्वप्न में दर्शन देकर उससे कहा—

“चिता मत कर। तेरी इस इच्छा को मधुरवाणी पूर्ण करेगी”। दूसरे दिन रघुनाथ भूष ने मधुग्वाणी को स्व-रचित रामायण का संस्कृतानुवाद करने की आज्ञा दी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मधुग्वाणी ने अपने संस्कृत की आज्ञा का पालन यही ही योग्यता से किया।

इस काव्य में १४ सर्ग और १५०० श्लोक हैं। प्रथम सर्ग के पहले अष्टोत्तम श्लोकों में अनेक देवी-देवताओं की स्तुति और प्रार्थना है। अगले ४ श्लोकों में (३१-४० में) व्यासजी, व्यास, कालिदास, याज्ञ और माघ आदि प्राचीन कवियों की प्रशंसा है। इसके आगे दो श्लोकों में (४३-४४ में) दुर्गाजी आधुनिक कवियों की विदा है। निम्नलिखित पैंतालीसवें श्लोक में उसने मुद्रापिता की उममा अलंकार विभूजित सौंदर्यशायिनी मुद्रता से ही है—

सत्यायता सर्गपथीधर्मि संशोभिता देववितामनायाम्।
कस्तूरिकाशराशुभ्रमार्गश्रीताह्वी मुद्रगीय दंजरे ॥

इसके बाद शर्वा मुद्रता के ऐश्वर्य और उत्तरे दम्बा की शोभा का विस्तारपूर्वक और विस्तृत वर्णन है। तथाकथित काव्य शिरो का कारण, जैसा कि ऊपर उक्तान किया गया है, निम्नकर मधुरवाणी में करने मधुर काव्य का प्रथम सर्ग समाप्त किया है।

इसके आगे रामायण की आख्यायिका प्रारंभ होती है। दूसरे, तीसरे और चौथे सर्ग में दशरथ और उनके यज्ञ का वर्णन है। पाँचवें और छठे सर्ग में रामजन्म और उनकी चाल्य-लीला है। विष्णुमित्र का आगमन, यज्ञ-रक्षा, ताड़का वध, अहल्या उद्धार, धनुष-भंग, विवाह और परशुराम समाद का वर्णन सातवें और आठवें सर्ग में है। अगले ६ सर्गों में वनवास, सीता-हरण, राम और सुग्रीव की मित्रता, बालि-वध और सीता की खोज आदि के संबंध की समस्त कथाएँ हैं। यहाँ तक की कथा ११५ पन्नों में पूरी हुई है। आगे के पन्ने नहीं मिलते। पर, आगे, तीन फुटकर (१०६, १०६, १४०) पन्नों को देखने से मालूम होता है कि कथा अधूरी नहीं छोड़ी गई।

मधुरवाणी ने इस ग्रंथ में अपनी काव्यमधुरता का अच्छा परिचय दिया है। वास्तव में उसका असली नाम यह न था। यह तो केवल गुण विशिष्ट उपनाम मात्र था, जैसा निम्न-लिखित श्लोक से मालूम होता है—

चतुरमधुरदाणीं सम्यगाकर्ण्य यस्या-

स्सदसि मधुरवाणी नाम दत्तं त्वयैव ।

सरसरुतिविधायी साधुमेधाविशेषा-

स्वधिकपट्टरशेषास्वम्बुजाक्षीषु सैषा ॥

यह उपनाम उसे राजा रघुनाथ का दिया हुआ था। वह कैनी त्रिदुपी और कला-कुशल थी, और उसकी

कवित्व शक्ति कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, यह उसी के मनोदृष्ट
शब्दों में हम, यहाँ पर, लिखते हैं—

आनुयमेति कवितासु चतुर्विधानु
घोणाकलाप्रकटनं भवति प्रतीणा ।
प्रशामिय निपुणमद्भति पाणिनीये
मेधां न्यनक्ति वदधा विधिधाप्रधाने ॥

तत्तादृग्वटिकाधनिर्मितगतश्लोकी कणिप्रामग्री—

घाणीप्राकृतशास्त्रनैपुणसमुन्मीलधश धीजुषा ।
घीणावादकलाप्रिनोदममये घृत्या ममन्याशतं
सप्रससदि साधु पूरयति या दत्ता कथान्द्वैस्तया ॥

मधुरवाणी घोणा घजाने में अत्यंत प्रतीणा थी। संस्कृत
और तैलगी भाषा में कविता करने की उसे अद्भुत शक्ति
प्राप्त थी। यह भाग्य-कवि थी, साथी शब्दों में १०० श्लोक
बना सकती थी। अर्थात् एक मिनट में २ श्लोक से भी
अधिक। यह क्या कुछ कम प्रशंसा की बात है, विशेष कर
अबला जाति के लिए ! ऐतना ज्ञान ही नहीं किंतु आयु
विषय—अशास्त्राचार आदि—में भी यह गुरु मिनट दम्ता थी।
नैयय काव्य और पद्मार्थनामय को दायतावाद विचारों के
विषय अपने कई चतु भी लिखे थे। यदि हम विषय में कुछ
अभिसंधीक्री नों भाग भी जान तो भी कोई विचारवान्
मनुष्य मधुरवाणी के वाच्य माधुर्य, विविध सुदृष्टि, कविता
शक्ति और विद्वता की प्रशंसा ही है जिना रही यह शब्द ।

यद्यपि कवि ने अपनी ही और अपने सरक्षक की प्रशंसा के ढेर के ढेर लगा दिये हैं, तथापि अपने माता पिता और निवास-स्थान का कुछ भी हाल नहीं लिखा। अतएव हम उसका विशेष वृत्तांत जानने में असमर्थ हैं। हम इतना ही जानते हैं कि उसने एक विद्वान् घराने में जन्म लिया था। उसने प्रथम से इतना और भी पता लगता है कि वह अद्वैत मत की अनुयायिनी थी।

इस काव्य की हस्त-लिखित पुस्तक तैलगी लिपि में है। ऐसा जान पड़ता है कि वह स्वयं मधुरवाणी के हाथ की लिखी हुई है, क्योंकि उसमें जो संशोधन किये गये हैं वे पुस्तक के मूल लेखक ही के हाथ के मालूम होते हैं। पुस्तक माइसोर-प्रांत में पार गई है। नायक-राजाओं के समय में तजोर और माइसोर में वनिष्ठ संबन्ध था। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि मधुरवाणी माइसोर प्रांत ही की रहनेवाली थी। खैर, जो हो, इसमें संदेह नहीं कि वह नारीरत्न थी। वह अपने समय की शिक्षिता स्त्रियों में शिरोमणि थी। मालूम होता है कि उस समय स्त्री-शिक्षा उन्नतावस्था में थी। उस तरफ विदुषी और कला कुशल स्त्रियों की कमी न थी। अनेक रघुनाथ नायक ही के दरबार में अनेक विद्याओं और कलाओं में निपुण कितनी ही स्त्रियाँ विद्यमान थीं। यह बात आगे लिखे श्लोकों से मालूम होती है—

विपश्चिकायां चतुरा. प्रगल्भा शास्त्रेऽतिदशास्सगसप्रबन्धे ।
 समीपमेतस्य समेत्य केऽपि सुनृजना म्बम्बफला व्यवृणन् ॥
 सर्वात्तरस्वादिमसमृष्टान्ध्रप्रवन्ऽनिर्माणपर्वलिमानि ।
 यशासि भूयाम्यवतारयन्त्यस्मद्वन्नशम्नति सरोजनेत्रा ॥

भारतवर्ष के लिए यह कुछ कम गौरव की बात नहीं
 कि अभी तीन ही सौ वर्ष पूर्व यहाँ काय रचने की
 शक्ति रखनेवाली अनंक विदुषी स्त्रियाँ जन्म लेती थीं ।
 क्या भारत अपने प्राचीन गौरव को फिर कभी प्राप्त
 करेगा ?

जुलाई १९०८

(६) शम्भुनाथ मिश्र । खजुरिगाँव । १२ मील । खजुरिगाँव के राजा यदुनार्थसिंह के कवि और वैस-चशावली के लेखक ।

(१०) चिरजीव* । लोग कहते हैं कि इन्होंने महाभारत का अनुवाद हिंदी में किया है ।

(११) महानंद वाजपेयी* । इन्होंने बृहच्छिब्रपुराण का अनुवाद हिंदी में किया है ।

(१२) पंचम । डलमऊ । २० मील ।

(१३) गंगादयालु द्विवेदी । निसगर । २ मील । संस्कृत के अच्छे विद्वान्, हिंदी और संस्कृत दोनों के उत्तम कवि, सगीतशास्त्र के पारदर्शी । इनका शरीर-पात हुए अभी थोड़े ही दिन हुए ।

(१४) गुणाकर त्रिपाठी । काँथा । २६ मील । संस्कृत और हिंदी दोनों के अच्छे कवि ।

(१५) कालीचरण वाजपेयी । विगहपुर । १२ मील ।

(१६) मूनू कवि । असोवर । २६ मील । अनेक ग्रंथों के कर्ता, जिनमें से राम-रावण का युद्ध मुख्य है ।

(१७) सुंदर कवि । असनी । १४ मील । रस प्रयोग के कर्ता ।

* नंबर १० और ११ वैसवाडे ही के कवि हैं, परंतु, इसका पता नहीं लगता कि वे कहा के निवासी थे ।

(१८) शिवलाल दुबे । डोडियाखेरा । ३ मील । अनेक पुस्तका के कर्ता, जिनमें से नखसिख और पट-श्रुत मुख्य ह ।

इनमें से कुछ कवि ठीक वैसराड़े के नहीं । परन्तु उनका घर वैसराड़े के बहुत ही पास था । सोलहवें शतक में हुए नरहरि और हरिनाथ भी हमारे यहाँ से, १४ मील दूर, असनी के रहनेवाले थे । प्राचीन समय में इन प्रांत में अनंत कवि हो गये हैं, उन सबका ठीक ठीक पता लगाना अब असंभव-भा है । वर्तमान काल में भी, इन भूभाग में, कई प्रसिद्ध विद्वान और पंडित हुए हैं । मसूदन के अच्छे विद्वान, हिंदी और संस्कृत में बहुत से ग्रंथ लिखनेवाले, शिभा विभाग में एक अच्छे पद का, बहुत दिनों तक, उपभोग करनेवाले, और आगरे के नूरुल इस्लाम और उदयपुर के सज्जन कीर्ति सुधाकर के सपाइय, पंडित उर्शीधर पाजड़ेयों इसी प्रांत के रहनेवाले थे । इनका मकान चित्तारानामक गाँव में था । यह गाँव हमारे यहाँ से साध ही मील दूर है । बनारस-कालेज के इंटरमास्टर, प्रेमाधिक कोम आदि के बनानेवाले और उर्शीधरी के बहुत बड़े विद्वान, पंडित मुराधरनाथ मिश्र भी इसी तरफ के थे । इनका घर बरगन में था । यह गाँव हीनतपुर से सिर्फ दो मील है ।

इसी हीनतपुर को मुखदेव मिश्र में अनेक विद्वानों ने बहुत काम करवाया है । इनके बारे में ६ "मुखदेव" की विज्ञान है, परन्तु यहाँ पर ये मुखदेव ही के नाम में प्रसिद्ध

हैं और अपनी पुस्तकों में इन्होंने अपना नाम सुखदेव ही लिखा है। इसी से हमने भी इनका यही नाम लिखना उचित समझा। प्रियर्सन साहव और शिवसिंह सेंगर ने, इनके विषय में, बड़ा गड़बड़ किया है। एक जगह आप इनको "सुखदेव मिसर" लिखते हैं और कपिला के रहनेवाले बतलाते हैं। दूसरी जगह आप इनका नाम "सुखदेव कवि" लिखते हैं और अंतर्वेद (गंगा-यमुना के बीच का भाग) इनका देश बतलाते हैं। तीसरी जगह आप इनका नाम "सुखदेव मिसर कवि" लिखते हैं और दौलतपुर इनका स्थान बतलाते हैं। प्रियर्सन साहव ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक विशेष करके शिवसिंह सरोज के आधार पर ही लिखी है। कहीं कहीं तो आपने शिवसिंह के लेख का शाब्दिक अनुवाद तक कर डाला है। इससे शिवसिंह-सरोज में सुखदेव जी के विषय में जो गड़बड़ है वही प्रियर्सन साहव की पुस्तक में भी है। साहव को शिवसिंह सरोज आदि में जैसा मिला है वैसा ही उन्होंने अपनी पुस्तक में लिख दिया है। प्रियर्सन साहव ने यह पुस्तक लिखकर हम लोगों पर बहुत उपकार किया है। हम उनके कृतज्ञ हैं और बहुत कृतज्ञ हैं। जहाँ तक कवियों का सही-सही हाल उनको मिला वहाँ तक उन्होंने लिखा। जान-बूझकर उन्होंने लिखने में बेपरवाही नहीं की। परंतु कहीं-कहीं उनके लेख में भ्रम जरूर हो गया है। एक जगह आप लिखते हैं—

“शशू हरिद्वन्द्व का कविचनसुत्रा भी एक सर्व-प्रिय ग्रन्थ है। उसमें पापसंशोधन के पद्यों का समूह है” !

अन्तु । सुखदेवजी की जन्मभूमि, गंगा के किनारे, “कविलमुनि की बसाई” कपिला-नामक नगरी है। ये दान्यदुच्च ब्राह्मण, हिमकर के मिश्र, थे। विवाह उनका कपिला ही में हुआ। जगन्नाथ और बुलाकीराम दो पुत्र भी उनके यहाँ हुए। लटकपन में उन्होंने मामूली तौर पर संस्कृत का थोड़ा-सा अभ्यास किया। जब ये बड़े हुए और दो पुत्र भी उनके हो चुके तब जो कुछ उन्होंने पढ़ा लिखा था वह उन्हें काफ़ी न मालूम हुआ। उनके हृदय में अधिक विद्योपार्जन की इच्छा उत्पन्न हुई। इतनापि ये धारण गये। वहाँ पर किन्हीं विद्वान् संन्यासी से ये सन्तान पढ़ने लगे। कुछ काल तक ये पढ़े परिश्रम से दिशाभ्ययन करने और रात-रात भर अध्ययन में निमग्न रहने लगे। सुनते हैं, ये अपने अध्यापक संन्यासी को ही महान्तर पर रहते थे। एक बार रात को बहुत देर तक ये अपने पाठ का विचार करते रहे। उनके पास ही ये संन्यासी गढ़ान्ना खाते थे। सोते समय किसी किसी का मुँह कफमय तुल जाया करता है। संन्यासीजी का भी मुँह उस रात को कफमय तुल गया और उनके नीकर से निकली और प्रदंशु करती हुई एक विशेष प्रकार की ज्योति दिखी जो सुषर्यको में दृशा।

उन्होंने उस ज्योति को भक्तिभाव-पूर्वक प्रणाम किया और अपना पाठ याद करके सो रहे।

दूसरे दिन प्रातः काल जब वे फिर अपना पाठ लेने लगे तब उन्होंने पढ़ते समय बहुत कुछ प्रगल्भता दिखाई और बुद्धिमान्नी से भरे हुए अनेक प्रश्न करने आरम्भ किये। उनका यह बुद्धिप्राख्य देखकर उनके अध्यापक महात्मा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने सुखदेवजी से इस वैलक्षण्य का कारण पूछा। तब उन्होंने रात की बात बतलाई। इस पर संन्यासी ने कहा कि अब आपको पढ़ने में अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं। आपको अब विद्या प्राप्त हो गई समझिए। ग्रंथावलोकन-मात्र आपके लिए अब प्रकार है। इस घटना के अनंतर सुखदेवजी अपने उस विद्यागुरु संन्यासी से शीघ्रता पूर्वक ग्रंथावलोकन करने लगे और थोड़े ही दिनों में तब और साहित्यशास्त्र में निष्णात हो गये।

यह बात सुखदेवजी के वंशजों को परंपरा से मालूम होती चली आई है। वे एक सिद्ध पुरुष और महात्मा थे, यह बात उनके अनेक अलौकिक कृत्यों से भी द्रष्ट होती है। पर इसका निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह कब की बात है। न तो सुखदेवजी के जन्म-मरण का समय ही ज्ञात है और न यही ज्ञात है कि कब वे बनारस गये और कितने दिनों तक वहाँ रहे। परंतु जिन राजाओं और तब वल्लभों के यहाँ वे रहे उनके समय का विचार करने से

यह निश्चय होता है कि वे १७२० और १७८५ ईसवी के बीच में विद्यमान थे। इससे उनको कुछ कोई ठेठ सो वर्ष बताने। यह बात सुखदेवजी के शिष्य शमुनाथ के ग्रंथों से भी स्पष्ट है। शिवमिह मोंगर, रामविलास-रामायण के कर्ता शमुनाथ को रंजीजन कहते हैं और घेनालपखीमी इत्यादि के कर्ता को पिपाटी बतलाने हैं। परंतु, यहाँ लोग कहते हैं कि दोनों एक ही व्यक्ति हैं। यही नहीं, किंतु भगवतराय खोची के यहाँ रहनेवाले शमुनाथ भी यही हैं। रामविलास में शमुनाथ लिखते हैं—

दसु-ग्रह मुनि शशधर * धरम नित फालुन फो मान ।

शमुनाथ पविता दिन कौहो रामविलास ॥

धोतुम कवि सुखदेव के चरनन होयो प्राप ।

निर्मल पविता धरन को दहै हमारे लान ॥

किर घेनालपखीमी में प्राप काहने ह—

मर जोम वृनि जागिरे मरमर + कवि शंभु ।

दुनि कदप गति अंध से पीहो नग भांग ॥

इस ओहो से यह निश्चय होता है कि जो कवयित्री इतने दिग्गज हैं जहाँ के दो-चार शब्द इतर या इतर सुखदेवजी हुए हैं।

विद्यालयन समान कवये सुखदेवजी कवो मर मरी मरे । कवो में दे मीव कवोयन कवो । कवहपुर ७ विमं

में असोत्तर एक ऋषिवा है। वहाँ पर, उस समय, भगवतराय खीची-नामक एक राजा था। वह बड़ा गुणग्राही था। उसी के यहाँ सुखदेवजी रहे। सुखदेवजी के गुणों पर वह राजा इतना लुब्ध हो गया कि उनका शिष्य होकर वह सेवक बन गया। वहाँ सुखदेवजी का बड़ा सम्मान हुआ। शाउस साहब ने फनेहपुर गजेटियर के परिशिष्ट में भगवतराय खीची का हाल लिखा है। वह सय कवि था। कई पुस्तकें उसने लिखी थीं। परंतु अब उनका कुछ पता नहीं। भगवतराय ने बहुत वर्षों तक बादशाह को मालगुजारी नहीं दी। वह सतत्र हो गया था और दो एक बार बादशाही फौजों को उसने परास्त भी किया था। परंतु १७६० ईसवी में वह दगा से मारा गया।

सुखदेवजी शाक्त थे। वे तारा के उपासक थे। यंत्र द्वारा उसकी वे विधि पूर्वक पूजा अर्चा किया करते थे। इस प्रकार की पूजा में मद्य-मांस की भी आवश्यकता होती है, अतएव यह सामग्री भी सुखदेवजी को इकट्ठी करनी पड़ती थी। यह बात लोगों ने भगवतराय से कह दी। सुनकर उसे आश्चर्य हुआ। ऐसे विद्वान्, ऐसे पंडित और ऐसे अच्छे कवि की पूजन-सामग्री में मद्य-मांस! उसको इस बात पर विश्वास न हुआ। इसलिये उसने खुद इसकी सत्यता अथवा असत्यता की जाँच करनी चाही। एक दिन, जिस समय उसके श्राद्धियों ने उसे प्रणम दी कि

मिश्रजी विधि-पूर्वक पूजा करने जाते हैं उसी समय, वह मिश्रजी के पास आकर उपस्थित हुआ। ऐसे कुन्मय में भगवंतराय को आया देव सुखदेवजी के चेहरे पर क्रोध, आश्चर्य और घृणा के चिह्न आधिभूत हो आये। परन्तु भगवंतराय को उन्होंने आसन दिया और आने का कारण पूछा। उसने कहा कि पूजा के समय सिर्फ आपका दर्शन करने आया हूँ। इस समय पूजन की सामग्री के बीच एक पात्र में मद्य और एक पत्तल में मास भी ढका हुआ रखा था। भगवंतराय के आने के समय सुखदेवजी पूजन में निमग्न थे, परन्तु उसके आने पर उन्होंने पूजा स्थगित कर दी और उसकी तरफ से मुद्रातिथ हो गये।

कुछ देर तक और और धार्मिक कर्मों के अनन्तर, भगवंतराय ने वहाँ पर रखे हुए मद्य पदार्थों का नाम पूछा और सुखदेवजी ने मद्यके नाम पतलाता शुरू किया। यथा मद्य उस पात्र और पत्तल की धारी आरंभ। वे ठहरे हुए थे। उनके शिष्य में भी जब भगवंतराय ने प्रश्न किया तब मिश्रजी के नेत्रों में और भी अचिरक अदमिता आ गई। परन्तु नाम पूछने में उन्होंने जरा भी संकोच या दिग्भ्रम नहीं किया। उन्होंने कहा कि पात्र में मद्य और पत्तल में सुखदेव के पूजन है। यह कहकर पात्र ही लपेटे हुए संदक की दुकन दिया कि इन दोनों के टुकड़ों को दो। यद्यपि यह भी जानना था कि उनमें से पदार्थ नहीं है, इसलिए उन्होंने जोर दे

आनाहानी की। जब दो चार कहने पर भी उसे खोलने का वैर्य न हुआ तब सुखदेवजी ने उस पात्र और पत्तल के ढक्कन को छुद खोल दिया। खोलते ही, उनके कहने के मुताबिक, उनमें दूध और गुड़हल के फूल देख पड़े। यह करके सुखदेवजी ने फूलों से भरी हुई वह पत्तल तारा के यंत्र के ऊपर जोर से उलट दी और दूध भी उसी पर डाल दिया। फिर आपने पूजन नहीं किया और उसी घर वहाँ से प्रस्थान करने को तैयार हो गये। यह सब लीला देखकर भगवंतराय चकित हो उठा। उसने अनेक प्रकार से क्षमा प्रार्थना की। उसके यहाँ बहुत-से और पंडित तथा कवि थे। उनको भी मध्यस्थ करके उसने अपना अपराध क्षमा कराने की कोशिश की परंतु सब व्यर्थ हुआ। सुखदेवजी उसी दिन वहाँ से चले आये और फिर कभी वहाँ नहीं गये।

दौलतपुर से २ मील दूर, गंगा के किनारे, बरसर नाम का एक गाँव है। उसके पास ही चडिका का एक प्राचीन मंदिर है। सुखदेवजी असौधर से रवाना होकर वहाँ आये और एक कुटी में विरक्तवत् रहने लगे।

चडिका के मंदिर से थोड़ी दूर पर डाड़ियाखेरा नामक एक गाँव था। उसमें मर्दनसिंह नामधारी एक नअल्लुकेदार थे। उनको राव का खिताब था। उस प्रांत में उनकी प्रभुता छूब बढी-चढी थी। बादशाह से उन्होंने कई परगनों की मालगुजारी वसूल करने का टेका

देखने का श्रादा किया। लोगों के प्रवाद पर उनको विश्वास न हुआ। अतएव एक दिन वे स्वयं सुखदेवजी की कुटी में आये। सुखदेवजी महात्मा थे; उन्होंने अतर्ज्ञान से मर्दनसिंह के आने का कारण जान लिया। अतएव, जहाँ राव मर्दनसिंह उनकी कुटी के प्रांगण में आये तहाँ उन्होंने कहा—“साही, राव साहय के लिए आसन ले आ”। यह कहते ही वह सुस्वरूपा स्त्री कुटी के भीतर से आसन लेकर निकली। यथास्थान उसने आसन गिद्धा दिया। विद्यारू वह राव के सामने ही दूसरी ओर बाहर चली गई। आसन विछ जाने और मर्दनसिंह के बैठ जाने पर, फिर सुखदेवजी ने साही को पुकारा और जल लाने की आज्ञा दी। पूर्ववत् फिर एक बेसी ही साही कुटी से निकली। उसने जल लिया और वह भी बाहर चली गई। सुखदेवजी की आज्ञा के अनुसार तीसरी साही पान लाई चौथी पुष्पमाला लाई, पाँचवीं कुच्छ और लाई। इस प्रकार दस पाँच साही उस कुटी के भीतर से निकलीं और अपना अपना काम करके बाहर चली गईं। यह लीला देखकर राव मर्दनसिंह हैरान हो उठे, आतर्क और भक्तिभाव से उनकी अजय हालत हो गई। उन्होंने सुखदेवजी को बार-बार सप्रेम और सभय प्रणाम किया और अपनी अविशेषता पर खेद प्रकट किया। राव मर्दनसिंह की इस काररवाई से मिथ महाराज के पूजन पाठ में कोई व्यतिक्रम या विघ्न तो

आया न था, इसलिए उन्होंने राव पर कोप प्रदर्शन न करके उनसे क्षमापराय को क्षमा कर दिया। तब से राव मर्दनसिंह उनकी बहुत ही इज्जत करने लगे। उनके लिए एक स्थान उन्होंने अपनी राजधानी में बनवा दिया। वहाँ सुखदेवजी रहने और पूजा पाठ तथा कायालाप में अपने समय का सदुपयोग करने लगे।

उड़ियातरा में कवियों का उदा आवरण था। वहाँ राजाश्रय में रहकर तीर्थराजे-नामक एक कवि ने संस्कृत-समरसार का हिंदी अनुवाद किया। यह ज्योतिष का ग्रन्थ है, इसमें युद्ध विषय है। सुखदेवजी के शिष्य शंभुनाथ जिपाठी भी बहुत दिनों तक उड़ियातरा में रहे। उन्होंने पैताल-शर्चाशतिका का भाषांतर हिंदी-भाषा में किया और मुहूर्ता-वितामणि का हिंदी पाठ में। उन्होंने रामविवास-नामक एक रामायण की भी रचना की। साहित्य शास्त्र में सुखदेवजी के जितने शिष्य थे उन सबमें शंभुनाथ और चण्डेय ही प्रसिद्ध हुए। शंभुनाथ टी.शुया नेरा में जन्मलसिंह के आश्रय में और चण्डेय कवि देहली में नानाच काठिनसशीली के आश्रय में बहुत दिनों तक रहे।

पाँदे पाँदे सुखदेवजी की म मजि दू-दू तक ३ व मी।
दू दू से लीग उनके दुर्गा के विषय आने लगे। इन के
लेखों की भी मज्जा पढ़नी गई। इनकी कवितायुगी का

प्रकाश जब अमेठी के राजा हिम्मतसिंह की राजधानी में पहुँचा तब हिम्मतसिंह को भी उनके दर्शनों की उत्कटा हुई। सुखदेवजी अमेठी गये। वहाँ भी उनका खूब सम्मान हुआ। तब से वे कुछ दिन डाँड़ियाखेरा और कुछ दिन अमेठी में रहने लगे। जो राजा या तअरलुकेदार इनसे मिलता वह इनका शिष्य हुए बिना न रहता। हिम्मतसिंह ने भी इनसे गुरुदीक्षा ली।

जिस समय सुखदेवजी अमेठी में थे, एक ब्राह्मण का लड़का मर गया। उस ब्राह्मण ने सुखदेवजी का माहात्म्य सुना था। इसलिए लड़के का निजीव शरीर लाकर सुखदेवजी के स्थान के सामने रख दिया और अत को उस शरीर को वहीं छोड़ वह अपने घर चला आया। सुखदेवजी बड़े सकट में पड़े। बहुत सोच-विचार के अनंतर उन्होंने देवी की स्तुति आरम्भ की, जिसका अंतिम पद्य यह था—

जान तुही और लज्जा तुही
 तुही लक्ष्मी है सीतले मेरी गुसाइनि ।
 आपनो कै मोहिं जानती हो
 में सदा ही पगे रहौं तेरे ही पायनि ॥
 जाहि निवाजै निहाल है जाइ सो
 जानत हौं सब तेरे सुभाइनि ।
 तेरो भिखारी हौं भीख दे मोहिं
 तू राखि ले वाल वड़ी ठकुराइनि ॥

सुनते हैं, इसके समझ होने ही उस बालक के शरीर में
बाध-संचार हो आया।

एक बार डोंड़ियाखेरा के राव मर्दनसिंह बीमार हुए।
बीमारी यहाँ तक बढ़ी कि जीने की आशा न रही। उस
समय सुखदेवजी अमेठी में थे। इसलिए वहाँ से उनको
लाने के लिए आदमी गये। मिश्रजी आये तो नहीं, परंतु जो
लोग उनको बुलाने गये थे उनसे उन्होंने कह दिया कि
बचपि राव मर्दनसिंह की हालत बहुत बुरी है तथापि वे
मरेंगे नहीं। यह कहकर उन्होंने दो सस्कृत-श्लोक और एक
हिंदी सबैया उनको दिया। सबैया यह था—

अरि मडल फोरि फने करिके

पर-फौजन फारि कै नाखिबे है।

बहु संख्यक छंद प्रबध बनाय

हमें अस राखरो भाखिबे है ॥

अकुलाने कहा मरदाने अशैं

रस औमन ते तुम्हें खाखिबे है।

रघुनाथक राम की गार्ह तुम्हें

जग में रहिये जग राखिये है ॥

कहते हैं कि जब ये पद्य लेकर आदमी डोंड़ियाखेरा आये
तब मर्दनसिंह द्वियमास दशा में गंगा के किनारे पहुँचने
वा कुंठे थे। सुखदेवजी की आशा थी कि यदि मर्दनसिंह
हुन लखें तो उनको यह कविता सुना दी जाय; यदि वे

प्रकाश जब अमेठी के राजा हिम्मतसिंह की राजधानी में पहुँचा तब हिम्मतसिंह को भी उनके दर्शनों की उत्कंठा हुई। सुखदेवजी अमेठी गये। वहाँ भी उनका खूब सम्मान हुआ। तब से वे कुछ दिन डोंडियाखेरा और कुछ दिन अमेठी में रहने लगे। जो राजा या तअरलुकेदार इनसे मिलता वह इनका शिष्य हुए बिना न रहता। हिम्मतसिंह ने भी इनसे गुरुदीक्षा ली।

जिस समय सुखदेवजी अमेठी में थे, एक ब्राह्मण का लड़का मर गया। उस ब्राह्मण ने सुखदेवजी का माहात्म्य सुना था। इसलिए लड़के का निर्जीव शरीर लाकर सुखदेवजी के स्थान के सामने रख दिया और अंत को उस शरीर को वहीं छोड़ वह अपने घर चला आया। सुखदेवजी, बड़े संकट में पड़े। बहुत सोच-विचार के अनंतर उन्होंने देवी की स्तुति आरम्भ की, जिसका अंतिम पद्य यह था—

ब्रान तुही और लज्जा तुही
 तुही लक्ष्मी है सीतले मेरी गुसाइनि ।
 आपनो के मोहि जानती हो
 मे सदा ही परो रहौं तेरे ही पायनि ॥
 जाहि निवाजै निहाल हँ जाइ सो
 जानत हौं सब तेरे सुभाइनि ।
 तेरो भिखारी हौं भीख दे मोहि
 तू राति ले वाल बड़ी ठकुराइनि ॥

सुनते हैं, इसके समाप्त होते ही उस बालक के शरीर में प्राण-संचार हो आया।

एक बार डोडियाखेरा के राज मर्दनसिंह बीमार हुए। बीमारी यहाँ तक बढ़ी कि जीने की आशा न रही। उस समय सुखदेवजी अमेठी में थे। इसलिए यहाँ से उनको खाने के लिए आदमी गये। मिश्रजी आये तो नहीं, परंतु जों लोग उनको बुलाने गये थे उनसे उन्होंने कह दिया कि कृपया राज मर्दनसिंह की हालत बहुत बुरी है तथापि वे मरेंगे नहीं। यह कहकर उन्होंने दो सशुद्ध श्लोक और एक विद्या लक्ष्मी देकर उनको दिया। मंत्र था—

अरि-मटल फोरि फने करिके
पर-फाजत फारि के नागिये है।

यहु सयक उद प्रबध बनाय
हमें जम रावरो भागिये है ॥

अबुलाने कहा मरदाने दधं
रस थीना ने तुम चागिये है।

रघुनायक राम की नार्द तुमहें
जा में रदिये जग रागिये है ॥

कहने हैं कि जब ये पद्य लेकर आदमी डोडियाखेरा आये मर्दनसिंह द्वियमा-दशा में मंगा के बिनाटे पहुँचाये थे। सुखदेवजी की आशा थी कि यदि मर्दनसिंह उन्हें भी उनको यह बरिता सुना दो जाय, यदि ऐसा

सकें तो दिखा दी जाय, और यदि यह भी न कर सकें तो गंगाजल में धोलकर पिला दी जाय। सुनने और देखने की शक्ति क्षीण हो जाने से, यह कविता जल से धोकर, किसी तरह उनकी पिला दी गई, कविता का कागज़ गंगाजल में धोलकर वही जल उनके मुँह में डाल दिया गया। कहा जाता है कि इसके थोड़ी ही देर बाद राव मर्दन सिंह ने आँखें खोल दीं और वे, क्रम-क्रम से, नीरोग हो गये।

जिस मर्दनसिंह के ऊपर सुखदेवजी की इतनी कृपा थी उसका परित्याग आपने एक जरा सी बात पर कर दिया। महात्माओं की सभी बातें विलक्षण होती हैं। एक दफे आप अमेठी से डौड़ियाखेरा वापस आये। वहाँ आकर देखते हैं तो गौरावाँ निमासी निशाकर नामक एक पंडित इनके स्थान में ठहरे हुए हैं। इनके आते ही राव के आदमी इनके ठहराने और सेवा शुधूपा में लग गये। परंतु एक पंडित और इज्जतदार आदमी को, जो भूल से मिश्रजी के स्थान पर ठहरा दिये गये थे, निकाल देना उचित न समझा गया। इसलिए मिश्रजी से प्रार्थना की गई कि आप तब तक अपने से भी अच्छे एक अन्य स्थान पर ठहरें। परंतु अपने स्थान पर दूसरे का ठहराया जाना सुखदेव महाराज को सहन न हुआ। उन्होंने किसी की चिन्ता और किसी की प्रार्थना न मानी। जो लोग उनकी सांत्वना करने आये थे, उनसे

आपने केवल इतना ही कहा कि अर यहाँ निशाचर रहने लगे हैं तो निशाचर नो रहेंगे । आपने कुपित होकर यह भी कहा कि हम क्या हमारे वश का कोई भी आदमी अर यहाँ न आवेगा । सुखदेवजी की वाणी मृत्यु निकली । अर डाढ़ियाम्बेरा में सचमुच ही निशाचर रहते हैं । उनके वशजों में से केवल एक सुजान नामक मिथ कुछ काल तक डाढ़ियाम्बेरा के राव के आधय में रहे । परन्तु उनका कुटुंब का समूल नाश हो गया । यह शायद सुखदेवजी के आहोस्लंघन का ही फल हो ।

डाढ़ियाम्बेरा छोड़कर सुखदेवजी तिर बक्सर आ गये और यहाँ पर अपनी पुरानी कुटी में रहने लगे । यद्यपि राव मर्दनसिंह ने बहुत मनाया और फिर अपने यहाँ ले जाने की बहुत कोशिश की, परन्तु आप किसी तरह जाने पर राजी न हुए । इन घटनाओं से सुखदेवजी को हिन्दू-राजाओं से कुछ पूजा-सौ हो गई । परन्तु राज-सभाओं में बैठने और वाया काय करने का आपको समझा-सा लग गया था । इससे आपने फिर राजाजय लेना चाहा । इन बातें आपने हिन्दू राज-सुखमान के यहाँ रहता उचित समझा । मन्वन्त अथवा काज-सभा और अर्थाधिक बरामातों में श्रीमन्तेव के मंत्रों गलगाय पाणिपत्तलीकी को मन्वन्त करने काय अपने यहाँ रहने लगे । एक दिन दु-पार में काय बैठे थे कि कादर मन्वन्त की आवाज सुनाई दी । इस पर पाणिपत्तलीकी ने

पूछा—“पंडितजी यह क्या कह रहा है” ? आपने तत्कात् उत्तर दिया—

द्वार दमामे ना वजत कहत पुकार-पुकार ।

हरि न भजे ते पशु भये परत चाम पर मार ॥

इसे सुनकर नब्बाव बहुत रुश हुआ ।

दौलतपुर से पाँच मील पर मुगारिमऊ-नामक एक शब्दी रियासत है । इसके तअल्लुकेदार राजा कहलाते हैं । वैसे में अरेले इन्ही को, इस तरफ, राजा की पदवी प्राप्त है । जब तक ये अपने अँगूठे से तिलक नहीं करते तब तक दूसरे तअल्लुकेदारों या राजाओं का तिलकोत्सव सिद्ध नहीं माना जाता । विद्रोह के वक्त यहाँ के तत्कालीन राजा ने अंगरेजों की बहुत खैरख्याही की । इस उपलक्ष्य में उनकी बहुत-सा इलाका भी मिला । सुखदेवजी के समय में वहाँ देवीसिंह-नामक राजा थे । मुगारिमऊ और डोंडियालेरा में बहुत दिनों से विरोध चल आता था । इसलिए राजा देवीसिंह ने अपने विरोधी मर्दनसिंह के कवि को आश्रय देने में अपनी बड़ाई समझी । इसलिए वे मिश्रजी को अपने यहाँ लाये और उनके शिष्य हुए ।

सुखदेवजी पर राजा देवीसिंह की भक्ति बढ़ती गई । जय से सुखदेवजी ने कपिला को छोड़ा या तब से उन्होंने अपने खी-पुत्र और कुटुंब से कुछ भी संबंध न रक्खा या । किसी से अपने घर का पता तक उन्हाने न बतलाया था । परंतु

राजा देवीसिंह ने उनको यहाँ तक प्रसन्न किया कि उन्होंने अपने घर का ठीक-ठीक पता मतला दिया। तब से राजा देवीसिंह उनसे अपनी स्त्री और पुत्रों को बुलाने के लिए अनुरोध करने लगे। रगड़ बुरी होती है, जिस घात क पाँछे पड़े रहो घट, एक न-एक दिन, सिद्ध हो जाती है। सुन्दरदेवजी ने राजा देवीसिंह को प्रार्थना स्वीकार कर ली। तब यह विचार दरपेश हुआ कि आपके लिए मकान कहाँ पर बने। सुन्दरदेवजी गंगा के बड़े नरु थे। सुनते हैं, एक दिन, आप दौलतपुर के पास गंगा-स्नान के लिए आये। घाट पर आपने स्नान किया और पूजन के अनंतर विष्णु-सदस्ननाम का पाठ शारम्भ किया। पाठ समाप्त न हुआ था कि आप वहाँ से चत दिये और पाठ शारी रफगा। धारा में कोई तीन फर्माँग पर, दौलतपुर में, आपका पाठ प्रथम हुआ। तब आपने कहा कि हमारे लिए विधाम ही गद्दी जगद टोक दोर्गा। वन, तिर दया था, राजा देवीसिंह ने आपके लिए वहाँ पर मकान बनवा दिया और उनके कुटुम्ब की भी कफिता में सुगाहर वहाँ गत दिया। सुन्दरदेवजी पश्चि अपने पुत्र-कलात्र के साथ, वहाँ पर, सामरग रा। गद्दे, तथापि, सुन। है, से शूर्यधामन क भेन्दों में दया नी भाँग नहीं हुआ। गंगा स्नान, नगरदासन और सामरगाव ही गं लारा मेर अधिन जगोण हुआ। गंगा की श्रुति में गद्दों में वहुत-सी सुखर कदिताये कती है।

सुखदेवजी को कई जगह चढ़ी-पढ़ी जागीरें मिलती थीं, परंतु, उनके वंशजों का कथन है, उन्होंने उनको लेने स्वीकार नहीं किया। वे कहते थे कि हमको किसी प्रकार की संपत्ति अपेक्षित नहीं, जो कुछ दिन-भर में मिलता है उसे शाम तक देवार्पण कर देना ही हम अपनी परिमित प्राप्ति का सदुपयोग समझते हैं। परंतु राजा देवीसिंह ने बहुत कुछ कह-सुनकर दौलतपुर लेने पर उनको राजी कर लिया। उन्होंने उसे खुद तो लिया नहीं, अपने लडकों को दिला दिया। बहुत दिनों तक सुखदेवजी के वंशजों का अधिकार इस गाँव पर रहा, परंतु, बाद में, कई कारणों से, वह उनके हाथ से निकल गया। इस गाँव के पास, गंगा के किनारे, एक पक्का घाट है और कई शिवालय भी हैं। कुटीर भी कई बने हुए हैं, जहाँ कभी-कभी साधु-संन्यासी आकर ठहरा करते हैं।

दौलतपुर में भी सुखदेवजी की सिद्धि की एक-दो परीक्षाएँ हुईं। उनसे मिलने और उनके दर्शन करने के लिए लोग दूर दूर से आते थे, यह बात प्रसिद्ध है। सुनते हैं, एक बार, गंगातट पर, जल के विलकुल सन्निकट, वे पूजा कर रहे थे। इतने में एक महात्मा उनसे मिलने आये। कुछ देर तक वार्तालाप के अनंतर उन्होंने सुखदेवजी के हाथ में एक गुटिका दी और कहा कि यह बड़े काम की चीज है। इसे मैंने बड़े परिश्रम से पाया है। इसमें यह गुण है कि इसे

गुण में रखने से अनेक अलौकिक काम करने की शक्ति प्राप्त होती है। यह सुनकर मिश्रजी ने कहा—“बस, इनमें इतना ही गुण है।” यह कहकर उन्होंने उसे गंगा में फेंक दिया। इन पर यह आगतुक बहुत कुपित हुआ और इनको गुण भरा कहने लगा। यह देखकर सुखदेवजी ने अपने दोनों हाथों की अङ्गली बनाकर चुपचाप गंगा के भीतर डाली और उसमें भरी हुई वैसी ही कोई चीस-पथीस गुट्टिकाएँ निकालीं। तब उस महात्मा से आपने कहा कि इनमें से आपकी जो गुट्टिका हो उसे आप पहचानकर ले लें। यह अघटित घटना देखकर यह आगतुक अचानक हो रहा और सुखदेवजी की स्तुति करता हुआ मार्गस्थ हुआ।

एक और भी इसी तरह की घटना एक बार हुई। इस बार भी ये पूजा कर रहे थे कि एक विद्वान् उनके मित्तों आगे और उनके वेपथिहास का मुल, दिना हाथ लगाये, अपनी तर्क कर दिया। परन्तु ज्यों ही यह बात सुखदेवजी के ध्यान में आई त्यों ही वह विद्वान्, आर-भी साथ, किन्तु अपने उनकी तर्क हो गया। ये बातें यहाँ के गुरु गुरुपर तर्क से सुने गये आते हैं।

अन्य तरह सुखदेवजी के जन्म-मरण का कला नहीं समझा गयी तरह उनके गुरु का भी नहीं समझा। यह बात भी बात है। परन्तु यह निश्चित है कि जन्म मरण का यह यहाँ उनके गुरु में हुआ।

सुखदेवजी के चार ग्रथ प्रसिद्ध हैं—रसार्णव, वृत्त-विचार, पिंगल, शृंगारलता और फाजिल-अली-प्रकाश। डोडिया रोरा के राजा मर्दनसिंह के लिए उन्होंने रसार्णव बनाया, अमेठी के राजा हिन्मतसिंह के लिए वृत्त-विचार-पिंगल बनाया; मुरारिमऊ के राजा देवीसिंह के लिए शृंगारलता बनाई, और नन्वात्र फाजिल-अलीखॉ के लिए फाजिल अली प्रकाश बनाया। रसार्णव में नायिकाभेद है, वृत्त विचार में वृत्तों के लक्षण और उदाहरण हैं, और फाजिल अली-प्रकाश में साहित्य के सब अंगों—काव्य के गुण-दोष, लक्षण, व्यंजना और अलंकार आदि—का वर्णन है। परंतु हम यह नहीं कह सकते कि शृंगारलता में क्या है। न हमने इस पुस्तक को देखा और न यहाँ (दौलतपुर में) इसके विषय से कोई अभिज्ञ मिला।

शिवसिंह के आधार पर त्रियर्सन साहब कहते हैं कि सुखदेवजी गौड़ में अर्जुनसिंह के बेटे राजा राजसिंह के यहाँ भी थे और वहाँ उनको कविराज की पदवी मिली थी। वे और शिवसिंह यह भी कहते हैं कि गौड़ में उन्होंने वृत्तविचार नामक छंदोविषयक एक ग्रथ बनाया, जो हिंदी के छंदोग्रंथों में सबसे अच्छा समझा जाता है। परंतु सुखदेवजी के वंशजों को इस बात की बिलकुल खबर नहीं। वे कहते हैं कि सुखदेवजी कभी गौड़ नहीं गये और वृत्त विचार पिंगल उन्होंने गौड़ में नहीं बनाया। उसे उन्होंने

अमेठी में हिस्मतसिंह के लिए बनाया । उसके आरंभ में उन्होंने हिस्मतसिंह को आशीर्वाद कहा है, यथा—

“मुखदेव सदाशिव मुदिन मन हिस्मतसिंह नरिंद कर्हें।”

कविराज की पदवी भी गौड़ से उद्दे नहीं मिली । वे अपने फ़ाजिल अर्गों-प्रकाश में लिखते हैं—

अलहयार-ख़ौं भुजपती सुमति ख़र सिरताज ।

जिन्हें दियो कविराज पद यद्यो परीव निघाज ॥

इसमें नाफ़ जाहिर है कि कविराज की पदवी हाको अलहयार-ख़ौं ने दी थी, गौड़-नरेज ने नहीं । मुखदेवजी के बनाये हुए ग्रंथों में प्रियसंग श्री शिखरिंद एक छंदा विचार विंगल घतलाने हैं । यह शायद किसी दूसरे मुखदेव का बनाया हुआ होगा । वे यह भी लिखते हैं कि मुखदेवजी ने अख्यानप्रकाश * और दशरामाय नाम के जो दो ग्रंथ बनाये हैं, परन्तु इन बात में भी दोलापुर्-नियामी घुड़-घुड़ मिथ साभिज्ञता प्रकाशित करते हैं । इसका मत है कि ये ग्रंथ भी शायद किसी दूसरे मुखदेव के बनाये हैं । वे पुग्नाफ़ हमारे देशों में नहीं शारं । हमारे इन शिष्य में हम विशेष पुण्य नहीं कर सकते । यदि ये लेखने को मिलतीं तो, सगल था, इन बात का निर्णय हो जाता कि ये किसकी बनारं दूर हैं ।

* यह एक छोटा सा ग्रंथ है, जो वं उ हमें पहले को मिले । यह भी मुखदेवजी की ही हो सकता है ।

सुखदेवजी के चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—रसार्णव, वृत्त-विचार पिंगल, शृंगारलता और फाजिल अली-प्रकाश। डोड्डिया खेरा जे राव मर्दनसिंह के लिए उन्होंने रसार्णव बनाया, अमेठी के राजा हिम्मतसिंह के लिए वृत्त विचार-पिंगल बनाया; मुरारिमऊ के राजा देवीसिंह के लिए शृंगारलता बनाई, और नन्वाव फाजिल-अलीखाँ के लिए फाजिल अली-प्रकाश बनाया। रसार्णव में नायिका भेद है, वृत्त विचार में वृत्तों के लक्षण और उदाहरण है, और फाजिल अली-प्रकाश में साहित्य के सब अंगों—काव्य के गुण-शेष, लक्षण, व्यंजना और अलंकार आदि—का वर्णन है। परंतु हम यह नहीं कह सकते कि शृंगारलता में क्या है। न हमने इस पुस्तक को देखा और न यहाँ (दौलतपुर में) इसके विषय से कोई अभिज्ञ मिला।

शिवसिंह के आधार पर प्रियर्सन साहब कहते हैं कि सुखदेवजी गौड़ में अर्जुनसिंह के बेटे राजा राजसिंह के यहाँ भी थे और वहाँ उनको कविराज की पदवी मिली थी। वे और शिवसिंह यह भी कहते हैं कि गौड़ में उन्होंने वृत्तविचार नामक छंदोविषयक एक ग्रंथ बनाया, जो हिंदू के छंदोग्रंथों में सबसे अच्छा समझा जाता है। परंतु सुखदेवजी के वंशजों को इस बात की विलकुल खबर नहीं। वे कहते हैं कि सुखदेवजी कभी गौड़ नहीं गये और वृत्त-विचार पिंगल उन्होंने गौड़ में नहीं बनाया। उसे उन्होंने

अमेटो में हिम्मतसिंह के लिए बनाया । उसके आरंभ में उन्होंने हिम्मतसिंह को आशीर्वाद कहा है, यथा—

“सुखदेव सदाशिव मुदित मन हिम्मतसिंह नरिंद कहें।”

कविराज की पद्यों में गीढ़ में उह नहीं मिली । वे अपने फाजिल अली प्रकाश में लिखते हैं—

अलहयार-घाँ भुजवली सुमति खूर सिरताज ।

जिन्ह द्वियो कविराज पद बड़ी परीय निवाज ॥

इसमें नाफ जातिर है कि कविराज की पद्यों इनकी

अलहयार-घाँ ने दी थी, गोद-नरेज ने नहीं । सुखदेवजी

के बनाये हुए ग्रंथों में प्रियर्सन और शिर्वासिंह एक छंदो

के चार पिंगल बनलाने हैं । यह शायद किसी दूसरे सुखदेव

का बनाया हुआ होगा । वे यह भी लिखते हैं कि

सुखदेवजी ने अध्यात्मप्रकाश * और दशरथनाथ नाम के

दो ग्रंथ बनाये हैं, परंतु इन बात में भी दीसतपुग-

नाथों ने सुद्धे-सुद्धे मिथ साभिप्राय प्रकाशित करे हैं ।

इसका मत है कि ये ग्रंथों शायद किसी दूसरे सुखदेव

के बनाये हैं । ये पुस्तकें हमारे देखने में नहीं आईं । हमारे

मन शिष्य में हम विशेष ध्यान नहीं कर सकते । यदि ये

ग्रंथों मिलतीं तो, मैं यह था इस बात का निर्णय हा

जाता कि वे किसकी बरतें हुए हैं ।

* यह एक प्राचीन ग्रंथ है, जो आज हमें देखने का शिवा है यह

के सुखदेव की ही रचना है ।

परमपददानी सिद्धि निधि की निसानी
घट-ग्रह में समानो चहूँ वेदन बखानी है ।
महिषासुर मारि चंड-मुडहि विदारि
रक्तबीजहि सहारि शुंभ दानवै रिसानी है ॥
महा मरदानी गहे कठिन कृपानी कहि
सीतल सयानी तिहूँ लोकन में जानी है ।
दादि सुनि लीजै, मेरे नैन करि दीजै,
सुनि पाथर पसीजै तू नो आदि महरानी है ॥

यह कविता धुरी नहीं है । “कविराज” के वश में
उत्पन्न कवि के सर्वथा अनुरूप है ।

अक्टोबर १९०८

हीरविजय सूरि

जैनियों में हीरविजय सूरि नाम के एक बड़े महात्मा और
 बड़े विद्वान् हो गये हैं। वे अकबर बादशाह के समय में थे।
 देव-विमल-गणि कृत हीरसोभाग्य-नामक काव्य से उनका
 बहुत कुछ हाल मालूम हो सकता है। इस काव्य में अकबर,
 उसकी राज्यव्यवस्था, उसके धार्मिक विचार आदि के सबंध
 में भी बहुत-सी बातें हैं। जैन पंडितों पर वह कितनी दृष्टा
 करना था, उनकी प्रार्थनाओं को वह कहीं तक मानता था -
 और उनको कितने आदर की दृष्टि से देखता था, इन बातों
 का भी पता हीरसोभाग्य से लगता है। जगद्गुरु काव्य
 नाम का एक और भी ग्रंथ सन्तान में है। उसमें भी इन
 बातों का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती है।
 सभी धर्मों और नैपथ्यों के महारत्नों और पंडितों से
 बातचीत करके अकबर अपने धार्मिक ज्ञान की वृद्धि करने
 के लिए सर्वथा तत्पर रहता था। मन्त्रज्ञान और साधु व्याख्ये
 जहाँ से प्राप्त हो सके, उसे प्राप्त करने के लिए वह सर्व
 स्वयं रहता था। इसी कारण वह 'सर्वज्ञ' और 'विद्वान्'
 ही को नहीं कि विद्वान् धर्मों में अतुल्यताओं तक का ज्ञान-
 वाक्य कहने में तत्पर रहता था। कारणों के जैन साधु

फरमान लेकर अहमदाबाद गये थे उन्हीं के साथ वे फतहपुर के लिए पैदल रवाना हुए। पट्टन, सिद्धपुर, सिरोही, मेड़ता आदि जिन जिन स्थानों में वे पहुँचे सभी कहीं वहाँ के अधिकारियों और प्रतिष्ठित पुरुषों ने उनका यथेष्ट सत्कार किया। जब वे साँगानेर पहुँचे तब अपने शिष्य विमलहर्ष को बादशाह के पास, अपने आगमन का सूचना देने के लिए उन्होंने भेजा। बादशाह ने थानसिंह आदि अपने अफसरों को आज्ञा दी कि बड़ी धूमधाम के साथ हीरविजय सूरि की अगमानी की जाय। शाही अफसर और अनेक प्रमुख जैन फौज, रथ, घोड़े और हाथी लेकर साँगानेर पहुँचे। उनके साथ सूरि महाराज फतहपुर आये। वहाँ एक रात जगमल फछवाहे के महल में वे रहे। दूसरे दिन वे शाही दरवार में उपस्थित हुए। परंतु उस समय अकबर एक बहुत आवश्यक और महत्व का काम कर रहा था। इस कारण उसने हीरविजय सूरि की सेवा-शुभ्रूपा का काम अबुलफत्तल को सौंपा।

अबुलफत्तल हीरविजय सूरि को अपने महल में ले गया। वहाँ उसने बड़े ही भक्ति भाव से उन्हें विठाय। कुछ देर बाद उसने हीरविजय सूरि से धर्म-संबंधिनी बातें पृछीं। उसके प्रश्न का सारांश हीरमौभाग्य के अनुसार नीचे दिया जाता है—

अबुलफत्तल ने कहा—“हमारे कुरान में लिखा है कि परने पर मुसलमान-धर्म के अनुयायियों के शरीर, धरोहर

इस प्रश्न को सुनकर हीरविजय सूरि ने पूर्वोक्त सिद्धांत का खडन कई श्लोकों में करके, अंत में यह कहा कि न तो इस संसार का कोई पैदा ही करनेवाला है और न कोई इसका नाश ही करनेवाला । इसमें ये जो अनेक प्रकार की विभिन्नतायें देख पड़ती हैं उनका कारण प्राणियों ही के प्राकृत कर्म हैं । अतएव मेरी राय में किन्नी लक्ष्मी का अस्तित्व मानना बंध्या-पुत्र का अस्तित्व मानने के समान है—

कर्ता च हर्ता निजकर्मजन्यवैचित्र्यविश्वस्य न कश्चिदस्ति ।
बंध्यात्मजन्मेव तदस्ति भागोऽसन्नेव चित्ते प्रतिभासते तत् ॥

यह सुनकर श्रवुलफल्ल बहुत खुश हुआ—

इदं गदित्वा विरते मुनीन्द्रे शेषा. पुनर्वाचमिमामुवाच ।
विज्ञायते तद् बहुगर्हवाचि वीचीच तथ्येतरता तदुक्ता ॥

अर्थात्, श्रवुलफल्ल ने यह कहा कि इस दशा में यही कहना पड़ता है कि हमारी धर्म-पुस्तकों में बहुत-सी तथ्येतर बातें हैं । यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि संसार के कर्तृत्व आदि के संबन्ध में हीरविजय का बतलाया हुआ सिद्धांत जैन-धर्म के अनुयायियों का सिद्धांत है ।

अकबर को काम से फरसत होने पर, सूरि महोदय शाही दरबार में बुलाये गये । वहाँ जाने पर क्या हुआ तो जगद्-गुरु-काव्य के प्रणेता के एक श्लोक से अवगत कीजिए—

चगा हो गुरुजीतिवाक्यचतुरो हस्ते निजं तत्करं
कृत्या सूरिवरान्निनाय सदनान्तर्वह्वरुद्धाङ्गणे ।

तावन्त्रीशुरवस्तु पादकमलं नारोपयत्तस्तदा
 वज्राणामुपरीति भूमिपतिना पृष्टाः किन्नेतद्गुरो ॥

अकबर ने पूछा—“शुरुजी ! चने तो हों ?” अकबर को हिंदी का यह नमूना ध्यान में रखने लायक है। फिर उनका हाथ पकड़कर अकबर उन्हें महलों के भीतर ले गया और विज्ञाने पर बिठाना चाहा। पर हीरविजय ने वज्रासन पर पेर रखने से इत्फार कर दिया। इस पर अकबर को आश्चर्य हुआ और सूरि महोदय से उसने इसका कारण पूछा। जैनशास्त्रों में इस तरह विम्बरे पर घंडने को आमा नहीं है—इत्यादि बातें जब अकबर ने सुनीं तब उसे और भी आश्चर्य हुआ। जैन साधु मघारी नहीं रखते, ये मदा पैदल ही चलते हैं। अतएव हीरविजय भी शतमदायाद से पैदल ही आये हैं, यह सब सुनकर अकबर से आश्चर्य की सीमा न रही। छेर प्रतिशिसनादर-मंडंधिर्वां बातें हो चुकने पर धर्म-गर्वा जिही। अकबर की आजा पाकर मूर्ति में धर्म परमन्वर और मद्गुरु के लक्षण निहकित रिने। इमका विना और भी अनेक पाँउ उर्गीं वदीं। हीरविजय को शूनितता, विगृहता और विउता आदि देगएर अकबर बहुत प्रगण हुआ। अकबर ने उर वहुन सी धर्मविगण उगवर्गे मँउ कीं। पदरी सी मुनि मरगएर से उर्गे लेने से इनकार किया। परंतु अनुनकार के वहुन पक्षों पर उ उर्गे शिया और बुद्ध दित माद अगएर उ उगवर्गे पर वंउ दिता।

अकबर के इस फरमान का अनुवाद भी मालकम सादव ने अपनी पुस्तक में दिया है। उसे हम ज्यों का त्यों नीचे प्रकाशित करते हैं—

“IN THE NAME OF GOD GOD IS GREAT

“Firman of the Emperor Jalalodeen

Mahomed Akbar Shah, Padsha,

Ghazee

“BE it known to the Moottasuddies of Malwa, that as the whole of our desires consist in the performance of good actions, and our virtuous intentions are constantly directed to one object, that of delighting and gaining the hearts of our subjects, etc

“We, on hearing mention made of persons of any religion or faith, whatever, who pass their lives in sanctity, employ their time in spiritual devotion and are alone intent on the contemplation of the Deity, shut our eyes on the external forms of their worship, and considering only the intention of their hearts, we feel a powerful inclination to admit them to our association,

from a wish to do what may be acceptable to the Deity. On this account, having heard of the extra-ordinary holiness and of the severe penances performed by Hirbujisoor and his disciples, who reside in Guzerat and are lately come from thence, we have ordered them to the presence, and they have been ennobled by having permission to kiss the abode of honour.

"After having received their dismissal and leave to proceed to their own country, they made the following request—That if the King, protector of the poor, would issue orders that during the twelve days of the month Bhadon, called Putehorasur (which are held by the Jains to be particularly holy) no cattle should be slaughtered in the cities where their tribe reside, they would thereby be exalted in the eyes of the world, the lives of a number of his animals would be spared, and the religion of His Majesty would be acceptable to God.

अकबर के इस फरमान का अनुवाद भी मालकम साहब ने अपनी पुस्तक में दिया है। उसे हम ज्यों का त्यों नीचे प्रकाशित करते हैं—

“IN THE NAME OF GOD GOD IS GREAT

“Firman of the Emperor Jalalodeen
Mahomed Akbar Shah, Padsha,
Ghazee

“BE it known to the Moottasuddies of Malwa, that as the whole of our desires consist in the performance of good actions, and our virtuous intentions are constantly directed to one object, that of delighting and gaining the hearts of our subjects, etc

“We, on hearing mention made of persons of any religion or faith, whatever, who pass their lives in sanctity, employ their time in spiritual devotion and are alone intent on the contemplation of the Deity, shut our eyes on the external forms of their worship, and considering only the intention of their hearts, we feel a powerful inclination to admit them to our association,

from a wish to do what may be acceptable to the Deity. On this account, having heard of the extra-ordinary holiness and of the severe penances performed by Hirbujsoor and his disciples, who reside in Guzerat and are lately come from thence, we have ordered them to the presence, and they have been ennobled by having permission to kiss the abode of honour.

"After having received their dismissal and leave to proceed to their own country, they made the following request — That if the King, protector of the poor, would issue orders that during the twelve days of the month Bhadon, called Puchozaur (which are held by the Jains to be particularly holy) no cattle should be slaughtered in the cities where their tribe reside, they would thereby be exalted in the eyes of the world, the lives of a number of living animals would be spared, and the actions of His Majesty would be acceptable to God,

अकबर के इस फरमान का अनुवाद भी मालकम साहब ने अपनी पुस्तक में दिया है। उसे हम ज्यों का त्यों नीचे प्रकाशित करते हैं—

“IN THE NAME OF GOD GOD IS GREAT

“Firman of the Emperor Jalalodeen
Mahomed Akbar Shah, Padsha,
Ghazee

“BE it known to the Moottasuddies of Malwa, that as the whole of our desires consist in the performance of good actions, and our virtuous intentions are constantly directed to one object, that of delighting and gaining the hearts of our subjects, etc

“We, on hearing mention made of persons of any religion or faith, whatever, who pass their lives in sanctity, employ their time in spiritual devotion and are alone intent on the contemplation of the Deity, shut our eyes on the external forms of their worship, and considering only the intention of their hearts, we feel a powerful inclination to associate them to our association,

करमान अकबर बादशाह राजी का—

"सबे मुलतान के बड़े बड़े हाकिम, जागीरदार, करोड़ी और सब मुत्सद्दी (कर्मचारी) जान लें कि हमारी यही मानसिक इच्छा है कि हमारे मनुष्यों और जीव-जंतुओं को सुख मिले, जिमसे सब लोग अमन चैन से रहकर परमात्मा की आराधना में लगे रहें। इससे पहले शुभचिंतक तपस्वी जयचंद्र सूत्रि खरनरगच्छ हमारी सेवा में रहता था। जब उसकी भगवद्भक्ति प्रकट हुई तब हमने उसको अपनी बड़ी बादशाही की मिहरवानियों में मिला लिया। उसने प्रार्थना की कि इससे पहले हीरविजय सूत्रि ने सेवा में उपस्थित होने का गौरव प्राप्त किया था और हर साल १० दिन भोगें थे, जिममें बादशाही मुत्कों में कोई जीव मांग न जाय और कोई आदमी किसी पत्नी, मदर्नी और उनमें सहाय जीवों को कष्ट न ले। उनकी प्रार्थना मूर्तिका हो गई थी। अब मैं भी आशा करता हूँ कि एक मत्तक का और सेवा ही दुषम इस शुभचिंतक के दागें हो जाय। इसलिये हमने अपनी आम दया से दुषम परमा दिया कि अबाद, शुभगम की नीमी से पूर्वमासी तक माल में कोई जीव मांग न जाय और कोई आदमी किसी जानवर को मतावे। अतएव आज भी यह है कि जब परमात्मा ने आदमी के दागें उरपादे ही एक

मक़ाम आज़ार जांदार , मोरे न गरदद । व अस्त
 खुद आँनस्त कि चूँ हजरते वेचूँ अज वराफ़ आदमी चर्दी
 न्यामतहाय गूनागूँ मुहय्या करदा अस्त । दर हेच वरू दर
 आज़ार जानवर न शवद । वशिकमें खुदरा गोर हेवानात
 न साजद । लेकिन वजेहत् वाजे मसालह दानायान पेश
 तजवीज नमूदा अंद । दरीविला आनार्य जिनसिंह सूरि
 उर्फ़ मानसिंह व अरज अशरफ़ असरुद रसानीद् कि
 फरमाने कि क़ल्ल अर्जी वशरह सदर अज । खुदूर याफ़ता
 वूद गुम शुदह । विनावरों मुताविक मजमून हमा
 फरमान मुजद्द फरमान भरहमत फरमूदैम् । मे वायद्
 कि हस्तुल भरतूर अमल नमूदा व तक्रदीम रसानद ।
 व अज फरमूदह तखल्लुफ़ व इनहिराफ़ न वरजंद ।
 दरी वाव निहायत एहतमाम व क़दगन् अजीम लाजिम
 दानिस्ता तरशयुर व तवद्दुल वक़वायद आँ राह न दिहंद ।
 तहरीरन् फ़ीरोज रोज़ सी व यक़ुम माह एरदाद इलाही
 सन् ४६ ।”

(१) “ व रिसालफ़ मुकर्रतुल हजरतस्सुलतानी
 दौलत-ख़ाँ दर चौकी (उमद्रे उमरा) ।”

(२) “ जुब्दतुलआयान राय मनोहर दर नोवत वाक़या-
 नवीसी, छाजा लालचद ।”

जोधपूरनिग्रामी मु शौ देवीप्रसादजी ने इसका अनुवाद
 हिंदी में इस तरह किया है—

फरमान अकबर बादशाह राजा का—

“दूरे मुलतान के बड़े बड़े हाकिम, जामीरदार, फरोड़ी और सर मुंसद्दी (कर्मचारी) जान लें कि हमारी यही माननिक इच्छा है कि सारे मनुष्यों और जीव-जंतुओं को सुख मिले, जिसमें सब लंग अमन चैन से रहकर परमात्मा का आराधना में लगे रहें। इससे पहले शुभचिंतक तपस्वी जयचंद सूरि खरतरगच्छ हमारी सेवा में रहता था। जब उसकी मगदङ्कलि प्रकृत हुई तब हमने उसको अपनी पत्नी बादशाही की मिह्रवानियों में मिला लिया। उसने प्रार्थना की कि हमने पहले हीरविजय सूरि ने सेवा में उपस्थित होने का गौरव प्राप्त किया था और हर म्यान ३० दिन भीगे थे, जिन्हें बादशाही मुल्कों में कोई जीव माता न जाय और कोई आदमी किसी पत्नी, मर्दाना और उनमें रहने जीवों को पष्ट न दे। उसको प्रार्थना स्वीकार हो गई थी। अब मैं भी आशा करता हूँ कि क्या मुल्कों में और सेवा ही सुख इस शुभचिंतक के पास हो, साथ ही मणिप हमने अपनी आत्म दया से सुख प्रदान किया है अथवा, शुद्धता की गौरी से पूर्णमासी तक माता में कोई जीव माता न जाय और न कोई आदमी किसी पत्नी को मनाये। अतएव जान लो यह है कि जो मनुष्य और जीव आदमी का दाग मल लच्छ के पदार्थ आनाते हैं सब हटिवाये जायेंगे। अतएव जो सुख न दे देंगे — दूरे से —

पशुओं का मरवट न बनावे। परंतु कुछ कारणों से अगले बुद्धिमानों ने वैसी तजवीज की है। इन दिनों आचार्य जिनसिंह उर्फ मानसिंह ने अर्न कराई कि पहले जो ऊपर लिखे अनुसार हुकम हुआ था वह खो गया है। इसलिए हमने उस फरमान के अनुसार नया फरमान इनायत किया है। चाहिए कि जैसा लिख दिया गया है वैसा ही इस आज्ञा का पालन किया जाय। इस विषय में बहुत बड़ी कोशिश और ताकदीद समझकर इसके नियमों में उलट-फेर न होने दिया जाय। ता० ३१ खुरदाद इलाही सन् ४६।

दजरत बादशाह के पास रहनेवाले दौलतखॉ के हुकम पहुँचाने से, उमदा अमीर और सहकारी राय मनोहर को चौकी और ग्वाजा लालचंद के वाकिया (समाचार), लिखने की बारी में लिखा गया।”

इस फरमान से स्पष्ट है कि सूरि को बारह दिन के लिए जीवहिंसा न की जाने के विषय में तो फरमान मिला ही था। उनके बाद जयचंद्र सूरि तो भी एक सप्ताह के लिए फरमान मिल गया था।

अरुवर ने हीरविजय को जगद्गुरु की पदवी दी। इसके बाद हीरविजय ने शांतिकंद्र-नामक पंडित को उपाध्याय बनाकर अरुवर के दरबार में छोड़ दिया और १५८४ ई० में आपने फतहपुर से प्रस्थान किया। कुछ दिन वे प्रयाग में रहे और कुछ दिन फिर आगरे में। तदनंतर आप गुजरात

को लोट गये। चार महीने, मार्ग में, आप लिरोही रहे।
१५८७ में वे पाटन पहुँचे।

इधर शांतिचंद्र ने अकबर को नारोक में ठुपारसकोण नाम की एक पुस्तक बनाई। उसमें उसने अकबर के शौचार्थ और काष्ण्य-दर्शक सारे मन्त्रियों का उल्लेख किया।

इस पुस्तक को शांतिचंद्र के मुख से सुनकर अकबर को बहुत सोंव हुआ। अनपरा, पाटन में हीरविजय का दर्शन करने के अभिप्राय से शांतिचंद्र जब फ़तहपुर से बिदा होने लगे तब अकबर ने अपने हिंसा प्रतिबन्धक फ़रमान की एक कापी उनके हाथ में दी। उसमें उसने 'हिंसा के समय की अवधि को शीर भी बढ़ा दिया और जज़िया-नामक कर उठा दिये जाने का भी हुकम दिया—

जययता धुनि मन्थिनिमात्रधे
नूरतिरेव तनुषकर स्वतर।

(हृषागच्छा)

मनुष्य ही इस कर को उठाकर अकबर ने बहुत बढ़ी मोनितुगता दिखलाई। शांतिचंद्र के चले जाने पर भातुचंद्रनामक तीन विद्वान अकबर के दरबार में रहे। भातुचंद्र के सिद्धिचंद्रनामक एक शिष्य था। इस सिद्धिचंद्र ने भातुचंद्र की जादूगी को टोका बिल्की ही। इस टोका के अन्तिम वाक्यों में भातुचंद्र तथा उसके संरक्षकों की कुटिलीय बानें भातुचंद्रों, ही। टोका का अंत इस -

“इति श्रोपादशाहश्रीश्रकवरजलालुद्दीनसूर्यसहस्रनामा-
ध्यापकश्रीशत्रुजयतीर्थकरमोचनाथनेकसुरुतविद्यालयमहोपा-
ध्यायश्रीभानुचन्द्रगणितच्छिष्याष्टोत्तरशतावधानसाग्रकप्र-
मुदितपादशाहश्रीश्रकवरप्रदत्तजुशकहमरदाभिधान महोपा-
ध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचितायां कादम्बरीश्रीकायामुत्तर-
खण्डटीका समाप्ता ।”

इससे मालूम हुआ कि सिद्धिचंद्र के शतावधान से प्रसन्न होकर श्रकवर ने उन्हें खुशकहेम को उपाधि से भूषित किया था। इससे यह भी विदित हुआ कि भानुचंद्र ने श्रकवर को सूर्यसहस्रनाम पढ़ाया था और शत्रुजय तीर्थ के यात्रियों को जो कर देना पड़ता था उसे भी उन्होंने श्रकवर से माफ करा दिया था। परंतु हीरविजय सूरि के परामर्श से ही भानुचंद्र ने यह काम किया था। इसके लिए उन्हें काश्मीर जाना पड़ा था। यह बात १५६३ ईसवी की है।

इसके बाद विजयसेन सूरि को भी बुलाकर श्रकवर ने अपने यहाँ रखा। अनेक धार्मिक विषयों में उनसे श्रकवर ने वार्तालाप किया। उस समय वहाँ एक प्रकार का धार्मिक सम्मेलन-सा था। अनेक विद्वान् राजधानी में उपस्थित थे। उनसे विजयसेन सूरि का शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने ३६३ विद्वान् प्रतिवादियों का पराभव किया। उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर श्रकवर ने उन्हें स्वामी की पदवी

की और विजयरत्न ने भानुचंद्र को उपाध्याय की पदवी । इस पदवीदान का जलमा बड़ी धूमधाम से हुआ । कृपारसकोश के कर्ता का कथन है कि इस उपलक्ष्य में श्रेष्ठ अनुत्कृष्टता ने ६०० रुपये और कितने ही घोड़े आदि दिये—

श्रेष्ठो रूपकपटुशर्तो व्यतिकरे तत्राश्वदानादिभिः ।

सन् १५८७ ईसवी में हीरविजय मूर्ति चार महीने पाटन में रहे । १५८८ में शाह सोपानिक तेजपाल की प्रदान की हुई सुपादर्य और अनंत की मूर्तियों की उन्दोने प्रतिष्ठा करार । १५६० में रानी तेजपाल की प्रार्थना पर शत्रुजय तीर्थ में मूर्ति मत्तोदय ने आदीश्वर का मन्दिर गोलने की धर्मक्रिया का समापन किया । इससे पाद से चार तीर्थों में पर्यटन और निदान करके मूर्ति पथ में हीरविजय मूर्ति ने, १५६० ईसवी में, शरीर शोक दिया । इस आदीश्वर के मन्दिर में एक बहुत ताया सिद्धा-सौर, मन्दिर-पथ में, उद्योग है । उद्योग भी मूर्ति होता है कि अक्षर के रूप में हीरविजय मूर्ति का बड़ा मत्त था । उद्योग दिव्य में इस सिद्धा-सौर में निम्न है—

उत्तं साहसधोरितोत्तमिण्यदरं मूर्तिगदां पुरा
 यत्तानामिद्विभ्रमपदेव धारणीतवेन मत्तोदयः ।
 लक्ष्मणे उद्योगमत्तपदापनित्या मत्तपदापनित्या
 मत्तपदापनित्या मत्तपदापनित्या मत्तपदापनित्या

विजयसेन के विषय में है—

ये च श्रीमदकव्यरेण दिनयाटाकारितः सादर
श्रीमल्लभपुर पुरन्दरपुरं व्यक्तं सुपर्वोत्करै ।
भूयोभिर्वतिभिर्धुधै, परिचृता वेगादलंचक्रिरे
सामोदं सरस सरोरुहवनं लीलामराला इव ॥

अस्तु । पुराने जैन पंडितों की चदौलत संस्कृत भाषा के साहित्य की बहुत वृद्धि हुई और इस देश में पशुहिंसा की कमी भी बहुत कुछ हुई । अतएव इस विषय में वे सर्वथा अभिनदनीय हैं ।

ऊपर, एक जगह, विजयप्रशस्ति-नामक महाकाव्य का उल्लेख हुआ है । उसमें २१ सर्ग हैं । हीरसोभाग्य की तरह उसमें भी हीरविजय सूरि का चरित है । साथ ही, अंत के कुछ सर्गों में, विजयसेन सूरि और विजयदेव सूरि का भी वर्णन है । इसके कर्ता का नाम हेमविजय गणि है । परंतु समग्र काव्य इनका लिखा हुआ नहीं । सोलह सर्ग लिख चुकने पर इनकी मृत्यु हो गई । अतएव अवशिष्ट पाँच सर्ग इनके गुरुभाई गुणविजय गणि ने बनाकर काव्य-पूर्ति की । गुणविजय ने इसकी एक टीका भी, विक्रम-संवत् १६८८ में, बनाई । यह सटीक-काव्य बनारस की जैन-यशोविजय पाठशाला के अधिकारियों ने छपाकर प्रकाशित किया है । संपादन बड़ी योग्यता ने हुआ है । पंडित हरमोहिंद बेचरदास ने इसका सशोधन किया है । कोई सात सौ पृष्ठों

की जित्द घेंधी हुई पुस्तक हे और पांच रूपये में मिलती है। इसके नवें सर्ग में हीरविजय सूरि और अफयर के समागम का वर्णन है। उसमें भी प्राय दर्हा बातें हैं निनका उल्लेख इस लेख में, ऊपर, किया जा चुका है। इतिदान-दृष्टि से यह काव्य बड़े महत्त्व का है। रचना इसकी प्राय-सरस और अर्थगाभीर्य-पूर्ण है।

जून १९१२



आचार्य दिङ्नाग

महामहोपाध्याय डॉक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम्० ए०, पी० एच् डी०, का लिखा हुआ—बौद्धन्याय-नामक एक लेख चंगीय साहित्य परिपक्विका में प्रकाशित हुआ है। उसमें अनेक बौद्ध विद्वानों और उनके न्यायग्रथां का उल्लेख है। आचार्य दिङ्नाग का भी संक्षिप्त वृत्तांत उसमें है। वह विशेष मनोरंजक है और महत्त्वपूर्ण भी है। अतएव उसका आशय नीचे लिखा जाता है—

दिङ्नाग का जीवनचरित

दिङ्नाग असाधारण नैयायिक थे। दक्षिण में काची-नगरी के पास सिंहवक-नामक गाँव में उनका जन्म हुआ। वे जन्म से ब्राह्मण थे। बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर नागदत्त-नामक बौद्ध गुरु के वे शिष्य हुए। नागदत्त वात्सी-पुत्रीय-नामक हीनयान संप्रदाय के अंतर्गत थे। इन संप्रदाय के वर्म-ग्रथ त्रिपिटक का अच्छी तरह अध्ययन करके दिङ्नाग ने महायान-संप्रदाय में प्रवेश करने की चेष्टा की। अतएव आचार्य वसुवधु के वे शिष्य हुए। उनसे महायान संप्रदाय के सारे बौद्ध ग्रंथ उन्हाते पड़े। महायान विद्या की अधिष्ठात्री देवी का नाम मंजुश्री है।

सुनने हे, दिङ्नाग की भक्ति से प्रसन्न होकर वह स्वर्ग से मृत्यु लोक में आई और दिङ्नाग के सामने उपस्थित हुई। उसकी कृपा से दिङ्नाग सारे शास्त्रों के असाधारण ज्ञाता हो गये। एक बार ये नालन्दा के विश्वविद्यालय के अधिकारियों के द्वारा बुलाये गये। वहाँ उन अधिकारियों की प्रेरणा से उन्होंने सुदुर्जय-नामक ब्राह्मण दार्शनिक को परास्त करके बौद्ध धर्म की विजय-पताका उड़ाई। उन्होंने और भी अनेक ब्राह्मण-तार्किकों को हराकर अपनी कॉर्नि-कॉमुदी से लोक-समाज को धधलित किया। इस उपलक्ष्य में उन्हें तर्क-पुग्घ की पदवी मिली। उड़ीसा और महाराष्ट्र-देशों में परिभ्रमण करके दिङ्नाग ने अनेक तीर्थंकरों के मत का खंडन किया। महाराष्ट्र-देश के जिस विहार में वे रहते थे उसका नाम था शागर्य-विहार। उड़ीसा प्रांत में उन्होंने भद्रपालित नाम के राजमन्त्री को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। विहारा और बुद्धिमत्ता में दिङ्नाग सर्व प्रधान थे। ये शांग पारमिता, ज्ञानि पारमिता, क्षीपं पारमिता, क्षा पारमिता आदि पारमिता पारमिताओं, क्षयार्थ बौद्धशास्त्रों के अष्टम पाद धर्मा, का कर्तुणा करने थे। नालन्दा के विश्वविद्यालय में निवास करने समय दिङ्नाग ने सारे दार्शनिक विद्याओं को परास्त करते एक कर्तुण शिरोभूषण प्राप्त किया। उसका नाम था वैश्वामित्रः। ब्राह्मण-धर्म के एक शिरोभूषण में उनकी मृत्यु हुई।

भारत के कितने ही स्थानों में दिङ्नाग को भ्रमण करना पड़ा था। सभी कहीं वे तरु-युद्ध में प्रवृत्त हुए थे। जिस निर्दयता से वे अपने प्रतिपक्षी पर आक्रमण करते थे, प्रतिपक्षी भी उसी निर्दयता से उन पर आक्रमण करता था। उनका जीवन इसी घात-प्रतिघात—इसी लड़ाई-झगड़े—में बीता। जिस महा-युद्ध में वे प्रवृत्त हुए थे उसका अदसान उनके मरने पर भी न हुआ। जो ग्रंथ वे लिख गये हैं, उत्तर-काल में, अनेक पंडितों को उन सभी ग्रंथों के मत के खंडन के लिए कमर कसनी पड़ी। मेघदूत-काव्य में दिङ्नाग का “स्थूलहस्त” परिहार करने के लिए महाकवि कालिदास को मेघ को सावधान करना पड़ा।

ब्राह्मण वंशीय नैयायिक उद्योतकर ने अपने न्याय-वार्तिक-ग्रंथ के आरंभ में दिङ्नाग को “कुतार्किक” की पदवी से विभूषित किया। सर्वदर्शनस्वतंत्र वाचस्पति मिथ ने दिङ्नाग को “घात भदंत” कहकर उनकी घाति के निराकरण को चेष्टा की। मल्लिनाथ ने दिङ्नाग को “अद्रिऋल्प” विशेषण से विभूषित किया। कुमारिलभट्ट और पार्थसारथि मिथ ने दिङ्नाग पर अबाध बाण-वर्षा की। सुरेश्वराचार्य आदि वेदांतवेत्ताओं और प्रमाचंद्र, विद्यानंद आदि जैन दार्शनिकों ने दिङ्नाग का मत लुप्त करने के लिए बहुत प्रयास किया। यहाँ तक कि पीछे-पीछे किसी-किसी बौद्ध नैयायिक को भी दिङ्नाग के ग्रंथों के किसी-किसी मत के

खडन का प्रयत्न करना पड़ा। दिङ्नाग सचमुच ही वीर पुरुष थे। उनमें असामान्य मनोबल और दैहिक तेज था। यदि ऐसा न होता तो अनेक दिशाओं से किये गये इतने आघात सहन करके वे इतने समय तक कर्मा जीं न रहते। दिङ्नाग के प्रथम भारत से लुप्त हो चुके हैं। नेपाल में भी वे रक्षित नहीं, किंतु पृथ्वी ने एकदम ही लुप्तप्राय नहीं हुए। तिब्बत में दिङ्नाग के प्रथम यज्ञ पूर्वक सु-भित हैं।

दिङ्नाग का आधिभांग-काल -

अनुमान यह है कि ५०० ईस्वी में दिङ्नाग जाँवित थे। उनके गुरु आचार्य वसुधंधु ५८० ईस्वी में विद्यमान थे। दिङ्नाग के दो प्रथमों का अनुयाय, २५७ ईस्वी में, चीनी भाषा में हुआ। जिस समय आंध्र-देश में दिङ्नाग का प्रादुर्भाव हुआ, जान पड़ता है उसी समय दक्षिण में पञ्चनदीय नदियों का आधिपत्य था। पञ्चनदीय नदियों में से अधिकांश नदियाँ यौद्ध धर्म व अनुगामी थीं।

दिङ्नाग का प्रमाण वसुधंधु

दिङ्नाग का सर्वप्रधान प्रथम प्रमाण-वसुधंधु है। किसी समय आंध्र देश की पैंतीस नगरों के पावर एवं विभिन पर्वत के ऊपर वे रहते थे। उसी समय उत्तरे हुए प्रथम की समता की थी। प्रमाण के संबंध में दिङ्नाग में, समस्त समय पर, जिस स्थानों का उल्लेख किया गया है, उन्हीं सब स्थानों का संभव एक जगह करने उपरान्त उसका नाम प्रमाण वसुधंधु रखा।

ईश्वरकृष्ण के साथ दिङ्नाग का विरोध

सुनने हैं, जिस समय दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय का पहला श्लोक बनाया उस समय भीषण भूकंप हुआ। आध्र-देश प्रकाश-पुत्र से चारों तरफ़ समुज्ज्वल हो उठा और सब कहीं कोलाहल मच गया। इसके अनंतर एक दिन ईश्वरकृष्ण-नामक एक ब्राह्मण दार्शनिक दिङ्नाग के शैल-विहार में आया। उस समय दिङ्नाग विहार में न थे। दिङ्नाग-लिखित प्रमाण-समुच्चय का पहला श्लोक जो ईश्वरकृष्ण की दृष्टि में पड़ा तो वे उसे फाड़कर चलते बने। दिङ्नाग ने आध्रम में लौटकर देखा तो श्लोक नदारद। अतएव उन्होंने उसे फिर लिखा। ईश्वरकृष्ण ने दुवारा आकर उस श्लोक को फिर नष्ट कर दिया। तीसरी दफे दिङ्नाग ने फिर भी उसे लिपिवद्ध किया। इस दफे उपद्रव-कारी को सावधान करने के लिए, श्लोक के नीचे, उन्होंने इस आशय का एक लेख लिख दिया—“हम नम्रता पूर्वक निवेदन करते हैं, कोई इस श्लोक को, खेल के बहाने भी, नष्ट न करे। अर्थगाभीर्य में यह श्लोक अतुलनीय है। इस श्लोक के भाव-सर्वध में यदि कोई हमारे साथ विवाद करना चाहे तो वह हमारे सामने उपस्थित हो। हमारी अनुपस्थिति में उसे कापुरुषता न करनी चाहिए।”

दिङ्नाग बौद्ध भिक्षु थे। नियमानुसार भिक्षा के लिए उन्हें रोज़ बाहर नगर में जाना पड़ता था। ऐसे ही समय

में ईश्वररूपा फिर भी उनके विहार में आये। उन्होंने इस श्लोक के नीचे दिङ्नाग की प्रार्थना पढ़ी। पढ़ने से उनके हृदय में साधु भाव का सूचार हो आया। वे सुपचाप चर्हाँ खड़े रहे। विहार को लौटने पर दिङ्नाग उनके साथ तर्क-युद्ध में प्रवृत्त हो गये। शर्त यह हुई कि जो परास्त हो वह विजेता का धर्म ग्रहण करे। ईश्वररूपा परास्त हो गये, पर उन्होंने दिङ्नाग का धर्म न स्वीकार किया। दिङ्नाग ने जब उन्हें शर्त की याद दिलाई तब मशोघारण पूर्वक ईश्वररूपा ने दिङ्नाग के विहार में आग लगा दी। यह जलकर भस्म हो गया। दिङ्नाग के पास पौधों-पत्रों जो कुछ था सब जल गया। दिङ्नाग बहुत चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा—
 “इस एक मनुष्य को मारने में न ता मरे। फिर मरना और लोगों के लिए मुक्ति प्राप्ति का उपाय इस क्या पाया गहने ?”
 उन्होंने अपने को बहुत पित्राण और मनास-मनुष्य ग्रंथ लिखने का विचार छोड़ दिया। इसी समय धार्मिक मनुष्यों उनके सामने शाबर उद्दिष्ट हुए और बोले—

“यत्न, शोक हो। जिस मात्र का विनाश तुमने करवा दिया है उसे कोई नहीं कर सकता। इस दुःखारे पित्राण ग्रंथ है। सत्कार से, सारे मनुष्य-जी पुद्गल नष्ट कर दिया जाये न कर सके। तुम जिस मात्र का विनाश कर रहे हो वह सब मनुष्यों का जन्म है। यह ईश्वर मनुष्यों का मुक्ति का पथ है। शरीरवादी।”

यह कहकर मंजुश्री अतर्द्धान हो गये । उस अवसर पर दिङ्मंडल वड़े ही समुज्ज्वल प्रभापुज से प्रकाशित हो गया । आंध्र-देश का राजा दिङ्नाग के पास आया और उसने अनुरोध किया कि आप हेतु-विद्या-शास्त्र की अवश्य रचना करके उसे समाप्त कीजिए । तब दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय-नामक ग्रंथ लिखना आरंभ कर दिया ।

प्रमाण समुच्चय का प्रतिपाद्य विषय

प्रमाण-समुच्चय का छद् अनुष्टुप् है । हेमचर्मा नाम का एक भारतीय बौद्ध पंडित था । उसी ने दे-प-शे-स नामक तिब्बतीय राज-लामा के साथ प्रमाण-समुच्चय का अनुवाद तिब्बतीय भाषा में किया । तिब्बत के शे-पइ-गे-ने नामक विहार में यह अनुवाद-कार्य समाप्त हुआ । तिब्बतीय भाषा में इस ग्रंथ का नाम है—“छे-म-कुत इ” । ग्रंथ के आरंभ में दिङ्नाग ने लिखा है—

“जो जगत् का हितसाधक और प्रमाण का अवतार-रूप है उसी सर्वशरण्य महागुरु सुगत के चरणों में स्तिर रखकर, इधर-उधर बिखरे हुए प्रमाण-विषयक वचनसमूहों का एकत्र संग्रह करके, मैं इस ग्रंथ की रचना करता हूँ ।”

ग्रंथांत में दिङ्नाग ने लिखा है—

“सर्वदेशीय तार्किकों का पराभव करनेवाले और हाथी के सदृश बलसंपन्न दिङ्नाग ने, अपने ही रचे हुए श्लोकों का संग्रह करके, इस ग्रंथ का प्रकाशन किया ।”

प्रमाण-समुच्चय ६ परिच्छेदों में विभक्त है—

- (१) प्रत्यक्ष, (२) स्वार्थानुमान, (३) परार्थानुमान,
 (४) शिक्खर हेतु, (५) प्रत्यक्ष उपमान और शम्भु-रत्न,
 (६) जात्युत्तर विचार ।

इसके आगे विद्याभूषण महाशय ने प्रमाण-समुच्चय में लिखी गई बातों का विवेचन विस्तार के साथ किया है । उस विवेचन को हम छोटे देते हैं, क्योंकि पाठकों में से बहुत कम को यह रुचिकर होगा ।

लेखान्त में डॉक्टर विद्याभूषण ने फालिदास की उस उक्ति का उल्लेख किया है जिसमें दिङ्नाग ने "समूलहस्त" की बात है । यह उक्ति मंगलूत के चौदहवें श्लोक के चौथे चरण में है । यथा—

"दिङ्नागानां पथि परिहरन स्मृतहस्तापलेपान्"

जिन पर्वत पर पथ था उससे रवाना होने की प्रार्थना में वे करके पथ बदलता है कि जब सूक्ष्म पर्वत के ऊपर से उबता हुआ आगे बढ़ेगा तब गिरनों की श्रियो के मन में यह भ्रम उत्पन्न होगा कि बड़ी पर्वत के शिखरों के को हवा तो नहीं उड़ाने लिये जा रही । इसी के आगे पक्ष में कहा है कि जब तु महाद्वारा बाबा-बाला काकाओं से उबता दिखार देगा तब तुझे दृष्टकर दिगात्रों का गर्व खूब हो जायगा । वे अपने को बहुत दिगम्बरकाय समझते हैं । परंतु जब वे तुझे अपने से भी बड़ा देखेंगे तब उनके

अपने भ्रम का हान हो जायगा। इससे सिद्ध है कि कालिदास की उक्ति का प्रकृत संबंध दिग्गजों से ही है। दिङ्नाग नाम आ जाने से श्लेष-शक्ति से यदि उन्होंने आचार्य दिङ्नाग पर कटाक्ष किया हो तो यह भी असंभव नहीं। दिङ्नाग अवश्य ही बड़े उद्धत और अतुल अवलोक-पूर्ण थे। यदि किसी प्रकार यह बात सप्रमाण सिद्ध हो जाय कि मेघदूत का पूर्वोक्त पद अवश्य ही श्लेष पद है तो कालिदास के समय-संबंध में भी यह निश्चय हो जाय कि वे ५०० ईसवी के ही आसपास विद्यमान थे, ईसा के ५६ वर्ष पहले, विक्रमादित्य की सभा में, न थे।

अगस्त १९१५

